प्रकाशक—
रामकृष्ण शर्मा बी. ए., साहित्यरत्न
अध्यक्ष—हिन्दी साहित्य संसार
१३६१ वैदवाड़ा, दिल्ली-६
ब्रांच-खजांची रोड, पटना-४

मूल्य
तीन रुपये मात्र (३.००)

मुद्रक—
रामकृष्णदास अग्रवाल
बी. ए., साहित्यरत्न
अध्यक्ष—महामाया प्रिंटर्स
बाजार सीताराम, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण का आमुख

संस्कृत-साहित्य स्वयं में वहुत विशाल एवं व्यापक है। इसमें जीवन के विविध पक्षों का मार्मिक चित्रण है। इसीलिए सहस्रों वर्षों के अनेक प्रकार के उत्थान-पतन के उपरान्त भी यह जीवित है और इसका पठन-पाठन केवल भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी होता है। भारतवर्ष में तो इसका अध्ययन केवल उन छात्रों के लिए ही अनिवार्य नहीं है जिन्होंने अपनी बी. ए. अथवा एम. ए. की परीक्षा में संस्कृत को वैकल्पिक विषय के रूप में ग्रहण किया है अपितु कितने ही विश्वविद्यालयों में तो हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए भी संस्कृत साहित्य के इतिहास का अध्ययन करना अनिवार्य है। किन्तु इतना होने पर भी एक ऐसी पुस्तक का अभाव प्रतीत हुआ जो छात्रों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और उनको प्रारम्भिक ज्ञान देकर अन्य पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करे। प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन इसी अभाव की पूर्ति के हेतु किया गया है। इसमें संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध सभी आवश्यक विषयों को प्रश्नोत्तर रूप में संघटित कर दिया गया है।

साहित्य और संस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध सर्वविदित है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, एक के विना दूसरे की सत्ता नहीं। इसीलिए कुछ विश्वविद्यालयों में संस्कृत साहित्य के साथ ही साथ भारतीय संस्कृति से सम्वन्धित प्रश्न भी पूछ लिए जाते हैं, फलतः हमने भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध कुछ प्रश्न भी दे दिए हैं, यद्यपि पुस्तक के कलेवर के बढ़ जाने की आशङ्का से इस प्रकार का अध्ययन वहुत सीमित ही रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक में हम मौलिकता का दावा नहीं करते। हमने तो विभिन्न स्थलों पर पड़ी हुई सामग्री को एक स्थल पर एकत्रित करने का ही प्रयास किया है। हमारा तो केवल एक ही लक्ष्य रहा है और वह यह कि एक ऐसी पुस्तक लिखी जाए जो किसी प्रकार की मौलिकता न रखते हुए भी विद्यार्थियों के लिए लाभदायक हो। हम अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफलता प्राप्त

कर सके हैं इसका निर्णय पाठक-गण ही कर सकते हैं किन्तु यदि जिज्ञासु पाठकों को कुछ भी लाभ पहुँच सका तो हम अपने परिश्रम को सार्थक समझेंगे।

१५-१-५६ —लेखक द्वय

द्वितीय संस्करण की भूमिका

परम संतोष का विषय है कि पाठकों ने इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का स्वागत किया। फलतः इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अल्पकाल में ही समाप्त हो गया। अब यह द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण पाठकों की सेवा में उपस्थित है। इस संस्करण में जो मुख्य-मुख्य परिवर्तन किए गए हैं, वे निम्न प्रकारेण हैं—

१. प्रस्तुत संस्करण में सम्पूर्ण पुस्तक को विषयानुसार विभिन्न अध्यायों में विभाजित कर दिया गया है।

२. प्रथम संस्करण में भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित कुछ प्रश्न भी दे दिए थे, लेकिन इस संस्करण को तैयार करते समय यह विचार किया गया कि भारतीय संस्कृति के इतिहास को दो-चार प्रश्नों की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता तथा अधिक प्रश्न देने से पुस्तक के कलेवर के बहुत अधिक बढ़ जाने की आशङ्का थी, फलतः हमने भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित प्रश्नों को हटा दिया है।

३. भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित प्रश्नों को हटा देने के फलस्वरूप हमारे लिए यह सम्भव हो सका है कि संस्कृत-साहित्य के कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों को जोड़ा जा सके। इन नए जोड़े गए प्रश्नों में प्रमुख कवियों की काव्य-कला तथा नाटककारों की नाट्य-कला से सम्बन्धित प्रश्न विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं।

४. पुस्तक के अन्त में उन प्रश्नों की सूची दे दी गई है जो समय-समय पर विभिन्न परीक्षाओं में पूछे गए हैं।

आशा है यह संस्करण पहले से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

१-१२-६१ —ओम्प्रकाश सिंघल

विषय - सूची

क्रम | पृष्ठ

विषय - प्रवेश

वैदिक साहित्य

रामायण, महाभारत और पुराण

महाकाव्य

रूपक

गद्य-साहित्य

गीतिकाव्य

ऐतिहासिक काव्य

कथा-साहित्य

चम्पूकाव्य

भारतीय दर्शन

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

: १

विषय-प्रवेश

प्रश्न १—संस्कृत भाषा और साहित्य के महत्व पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम एवं श्रेष्ठतम भाषा है। इसका साहित्य आज भी साहित्य-रसिकों का कण्ठहार बना हुआ है। आज भी स्वल्प मात्रा में ही सही, संस्कृत-वाङ्मय का प्रणयन हो रहा है, पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है, नाटक अभिनीत होते हैं और अविरल रूप से भाषण दिए जाते हैं। इतना ही नहीं काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारतीयों के सांस्कृतिक और धार्मिक कृत्यों, पूजा-पद्धतियों एव संस्कारों में संस्कृत भाषा का समानरूपेण प्रयोग होता है।

संस्कृत भाषा की मूल विशेषता इसके शब्द-भण्डार का अक्षय और अनन्त होना है। इस भाषा का यौगिक शब्द-निर्माण यंत्र इतना वैज्ञानिक और समर्थ है कि उसके द्वारा आवश्यकतानुसार प्रत्येक विषय के नवीन शब्दों का निर्माण सरलता से सम्पन्न हो जाता है। फलतः इस भाषा में शब्दों का अभाव तनिक भी नहीं है।

वस्तुतः भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, प्रसंगों, वस्तुओं, भावों और रसों के वर्णन के लिए तदनुकूल वर्णों, शब्दों और क्रियाओं के प्रयुक्त करने की सुविधा एकमात्र संस्कृत भाषा में ही है। एक या दो अक्षरों द्वारा संपूर्ण श्लोक का निर्माण करना, एक ही श्लोक से प्रसंग-संगतिपूर्वक दो-दो और तीन-तीन

कथाओं का आदि से अन्त तक निर्वाह करना संस्कृत भाषा की आश्चर्यजनक और कौतूहलपूर्ण विशेषता है।

संस्कृत भाषा के प्रत्येक शब्द का निर्माण किसी विशेष अर्थ को लेकर हुआ है। प्रत्येक शब्द के पीछे इतिहास है, विकासक्रम है, प्रयोजन है, निरुक्ति है, व्युत्पत्ति है और है वैज्ञानिक वर्गीकरण। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा में पत्नी के लिए अनेक शब्द हैं यथा पाणिगृहीती, द्वितीया, सहधर्मिणी, भार्या, जाया और दारा। किं यहाँ प्रत्येक शब्द का अर्थ क्रमिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अभिद्योतक है यथा—पाणिग्रहण होने के समय पाणिगृहीती और उसके अनन्तर द्वितीया। द्वितीया होने पर सहधर्मिणी और सहधर्मिणी रूप में घर का भरण-पोषण करने के उपरांत भार्या। तदनन्तर जाया और अन्ततः विशाल परिवार की स्वामिनी होने के उपरांत दारा। इस प्रकार पत्नी से दारा तक सभी नाम स्त्री के होते हुए भी अवस्था-भेद से स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जन, लोक, पुरुष, नर आदि शब्दों में मानव की उत्पत्ति से उच्चतम अवस्था में पहुँचने तक का इतिहास अन्तर्निहित है।

संस्कृत भाषा की सर्वोत्कृष्ट विशेषता इसकी शास्त्रीय उच्चारण पद्धति है। स्वर-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् भारतीय ऋषियों ने नाद-विज्ञान का गंभीर गवेषण किया था जिसकी महत्ता की उद्घोषणा प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ई० एच० जोनस्टन इन शब्दों में करते हैं—"प्राचीन भारतीय विद्वानों को नाद और ध्वनि-तरंगों के विविध प्रकार का असाधारण और अति सूक्ष्म ज्ञान था। शब्दोच्चारण और उसके अर्थों के मधुर संगम से जो महान् अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है, वह अन्य भाषा और साहित्य में सर्वथा असम्भव है।"

केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं, साहित्य की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य संसार के सभ्य साहित्यों में अनुपम और अद्वितीय है। प्राचीनता, व्यापकता, सांस्कृतिक मूल्य और सौन्दर्य-सृष्टि सभी क्षेत्रों में यह विश्व के किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकता है।

प्राचीनता—पाश्चात्य विद्वानों ने विश्व का प्राचीनतम साहित्य मिस्र देश के साहित्य को माना है किंतु यह भी विक्रम के चार हजार वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं है; लेकिन वाल गंगाधर तिलक की निर्भ्रान्त ज्योतिष गणना के अनुसार वेदों का रचना-काल विक्रम के ६ हजार वर्ष से भी पूर्व का है और तब से लेकर अब तक यह निरंतर वृद्धि प्राप्त करता जा रहा है।

व्यापकता—व्यापकता की दृष्टि से भी यह साहित्य गौरवशाली है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के ऊपर ग्रंथ प्रस्तुत करने का श्रेय इसे ही प्राप्त है। विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, कला-कौशल और पशु-पक्षी सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।

सांस्कृतिक मूल्य—सांस्कृतिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विश्व-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए सब से अधिक सामग्री यहीं उपलब्ध होती है।

सौन्दर्य-सृष्टि—विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से भी यह साहित्य अपनी विशेषता रखता है। प० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "जिस साहित्य में कमनीय कविता के स्रष्टा कालिदास हुए, मानव-हृदय के परम-पारखी सरस्वती के अनुपम लास्य दिखाने वाले भवभूति जैसे नाटककार हुए, त्रिलोक-सुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुना कर श्रोताओं को भक्त बनाने वाले बाणभट्ट जैसे लब्धप्रतिष्ठ लेखक हुए, कोमल-कांत पदावली के द्वारा विद्वानों के हृदय में मधुर रस की वर्षा करने वाले जयदेव जैसे गीति-काव्य के लेखक हुए और जिसे काव्य और दर्शन के अपूर्व सम्मिलन दिखाने वाले श्रीहर्ष जैसे कवि-पण्डित ने अपनी सुन्दर शब्द-तूलिका से चित्रित कर रम्य आकार प्रदान किया, उस साहित्य की कलात्मक दृष्टि से उपयोगिता बतलाना नितांत उपहासास्पद व्यापार होगा।" केवल प० बलदेव उपाध्याय ही नहीं अपितु अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यदि डा० कीथ के शब्दों में संस्कृत-साहित्य की महत्ता इस प्रकार है—"भारत के महान् कवियों ने व्युत्पन्न रसिकों के लिए

काव्य निबद्ध किए हैं। वे अपने समय के पांडित्य के अधिपति थे, भाषा के प्रयोग में अभ्यस्त थे और अभिव्यंजना की सूक्ष्मता के द्वारा, प्रभाव की सरलता के द्वारा नहीं, श्रोताओं को अनुरञ्जित करना चाहते थे। उनके पास अत्यधिक रमणीय भाषा-शैली थी और विचित्र प्रभावोत्पादक छन्दों पर उनका पूर्ण अधिकार था।" तो विंटरनिट्ज़ का कथन है—"लिटरेचर (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह संस्कृत में विद्यमान है। धार्मिक और इतिहासपरक रचनाएँ, महाकाव्य, लिरिक, नाटकीय और नीति सम्बन्धी कविता, वर्णनात्मक, अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य सब कुछ इसमें भरा पड़ा है।"

प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता और कलात्मकता आदि की दृष्टि से ही नहीं अपितु धर्म एवं दर्शन के विकास के परिचय की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल ने इस संबंध में लिखा है—"भारोपीय वंश की केवल भारत-निवासिनी शाखा ही इसमें ऐसी है, जिसने वैदिक धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध धर्म नामक बड़े सार्वभौम धर्म की रचना की। अन्य शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखलाकर बहुत पहले से एक विदेशीय धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने स्वतन्त्रता से अनेक दर्शन सम्प्रदायों को विकसित किया, जिनसे उनकी ऊँची चिंतन शक्ति का प्रमाण मिलता है।" केवल इतना ही नही यूरोपीय संस्कृति और विचारों के क्रमिक विकास को समझने के लिए भी संस्कृत साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता है। विंटरनिट्ज़ का कथन है—"यदि हम अपनी ही संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने की इच्छा रखते हों, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं तो हमें भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है।"

अन्ततः संस्कृत भाषा और साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इतना ही कहा जा सकता है—"संस्कृत साहित्य को

एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवहमान मानव-चिंतन का एक विराट् स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।"

प्रश्न २—'पाश्चात्य जगत् में संस्कृत का प्रचार कैसे हुआ' इस विषय पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

मध्यकाल अर्थात् ६०० से १५०० ई० तक में यूरोप में पंचतंत्र तथा आर्यों की विद्वत्ता के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हो गईं किन्तु इतना होने पर भी यूरोपवासियों को आर्यों की भाषा या संस्कृत के विपुल साहित्य के सम्बन्ध में तनिक भी ज्ञान न था। १७ वीं शताब्दी में कुछ यूरोपियन प्रचारकों ने संस्कृत सीखी और सन् १६५१ ई० में भर्तृहरि के शतकों का डच भाषा में अनुवाद किया गया। परन्तु यूरोपवासी संस्कृत-साहित्य से अब भी अपरिचित ही रहे। १७ वीं शताब्दी में ही किसी यहूदी प्रचारक ने यजुर्वेद की एक बनावटी प्रति तैयार की और १८वीं शताब्दी के मध्य में मि० वाल्टेयर ने इसे ही असली प्रति समझ कर इसका बड़ा आदर किया। किंतु इस प्रति के कारण यूरोप में अनेक भ्रमों का पोषण भी हुआ। यूरोपीय विद्वानों की धारणा हो गई कि संस्कृत साहित्य ही नहीं अपितु संस्कृत भाषा भी एक कृत्रिम भाषा है जिसे सिकन्दर के आक्रमण के उपरांत ग्रीक भाषा की नकल पर ब्राह्मणों ने घड़ लिया था। इसी धारणा की पुष्टि १९वीं शताब्दी की चौथी दशाब्दी में डब्लिन के एक प्रोफेसर के द्वारा भी की गई।

अठारहवीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने भारतीयों पर शासन करने के लिए भारत की भाषा, साहित्य, धर्म और प्रथाओं के ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव किया। फलतः तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन-हेस्टिंग्ज ने इस दिशा में कार्य करने के लिए दृढ़ संकल्प कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि १७१६ ई० में फारसी अनुवाद के माध्यम से संस्कृत की कानूनी पुस्तकों का एक सार-संग्रह अंग्रेजी भाषा में तैयार किया गया।

वारन हेस्टिंग्ज की प्रेरणा के फलस्वरूप चार्ल्स विल्किस ने बनारस में संस्कृत का पर्याप्त अध्ययन किया और तदुपरांत १७८५ ई० में भगवद्गीता तथा १७८७ ई० में हितोपदेश का सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। इस प्रकार उसने पाश्चात्य साहित्य-जिज्ञासुओं को भारतीय रचनाओं का सर्वप्रथम आस्वादन कराया।

विल्किस के अनंतर संस्कृत के अध्ययन में पर्याप्त अभिरुचि दिखाने वाला व्यक्ति सर विलियम जोंस है। इन्होंने पर्याप्त श्रम और धन के व्यय करने के उपरांत संस्कृत विषयक अध्ययन किया। तदुपरांत उन्होंने सन् १:८४ में एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल की स्थापना की तथा प्राचीन भारतीयता से संबद्ध अनेक महत्वपूर्ण निबंध प्रकाशित किए। इतना ही नहीं सन् १७८९ में इन्होंने अभिज्ञान शाकुन्तलम् और मनुस्मृति के अँग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किए तथा सन् १७९२ में ऋतुसंहार का मूल संस्कृत पाठ प्रकाशित कर संस्कृत पुस्तक के सर्वप्रथम प्रकाशन का श्रेय प्राप्त किया।

इसके अनन्तर संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन में अत्यधिक अभिरुचि का परिचय देने वाला व्यक्ति हेनरी टामस कोल्ब्रुक है। इन्होंने ही सबसे पहले अपनी गंभीरता और उद्योगशीलता से संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। इन्होंने संस्कृत वाङ्मय के लगभग सभी क्षेत्रों से संबंधित निबंधों का प्रकाशन किया। इन्होंने संस्कृत के कतिपय महिमाशाली ग्रंथों का मूल पाठ और अनुवाद भी प्रस्तुत किया। इनके द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री परवर्ती विद्वानों के लिए बहुत उपकारिणी सिद्ध हुई।

इसी काल में अलैक्जण्डर हैमिल्टन (१७६५-१८२४ ई०) ने भी संस्कृत का अच्छा ज्ञान उपलब्ध किया था। १८०२ ई० में जब ये अपने घर इंग्लण्ड को लौट रहे थे तो इंग्लैण्ड और फ्रांस में नए सिरे से लड़ाई छिड़ गई और इनको बंदी बना लिया गया। बंदी की अवस्था में ये पेरिस में रहे। वहां इन्होंने कुछ फ्रांसीसी विद्या-प्रेमियों और प्रसिद्ध जर्मन कवि फ्रैडरिक श्लैगल (Fried-

rich Schlegel) को संस्कृत पढ़ाना आरम्भ कर दिया । इस महत्वपूर्ण कार्य का यह परिणाम हुआ कि १८०८ ई० में श्लैगल ने भारतीयों की भाषा और विद्वत्ता (On the Language and Wisdom of Indians) नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ का प्रकाशन किया । इस ग्रंथ-प्रकाशन के परिणामस्वरूप यूरोप में संस्कृत-विद्या के अध्ययन में एक क्रांति उत्पन्न हो गई । भाषा-विज्ञान को तुलनात्मक और ऐतिहासिक शैली भी इसी पुस्तक ने प्रदान की । इसी ग्रंथ ने जर्मन में संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन के प्रति बड़ा भारी उत्साह उत्पन्न किया और इसी पुस्तक से अनुभूति लेकर सन् १८१६ ई० में एफ़ .बॉप (F. Bopp) ने ग्रीक, लैटिन, जर्मन और फारसी संधि-प्रकरण के साथ तुलना करते हुए संस्कृत के संधि प्रकरण पर एक पुस्तक लिखी जिससे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का सूत्रपात हुआ ।

आरम्भ में पश्चिमी विद्वानों का संस्कृत अध्ययन लौकिक संस्कृत संबंधी भाषा और साहित्य तक ही सीमित था । कोल्ब्रुक ने यद्यपि वेदों का एक प्रामाणिक विवरण दे दिया था और इसके उपरांत जर्मन विद्वान् भी अधिक गंभीरता से वैदिक ग्रंथों के अध्ययन में जुट गए थे किंतु इस प्राचीनतम साहित्य को पश्चिम में अधिक प्रचलित करने का श्रेय एफ. रोज़न (F. Rosen) नामक विद्वान को ही प्राप्त है । इन्होंने ही प्रथम बार ऋग्वेद संहिता का सम्पादन किया जिसके प्रथम आठ मण्डल इनकी मृत्यु के शीघ्र बाद ही १८३८ ई० में प्रकाशित हुए ।

एफ. रोज़न के उपर्युक्त कार्य को आगे बढ़ाने वालों में आर. रॉथ का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है । इन्होंने सन् १८४६ ई० में वैदिक साहित्य और इतिहास (On the Literature and History of the Vedas) नामक ग्रंथ का प्रकाशन किया । इस पुस्तक के प्रकाशन ने यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन को तेज करने में और अधिक सहायता प्रदान की । इतना ही नहीं इन्होंने वैदिक भाषा की नींव डाली ।

आर. रॉथ के अथक परिश्रम और अद्भुत कार्य-क्षमता ने अनेक यूरोपीय विद्वानों का उत्साहवर्द्धन किया। वीयाना के प्रो० बूह्लर ने नाना देशों के लगभग तीस विद्या-विशारदों की सहायता के बल पर समग्र वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का एक विशाल विश्व-कोष प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया। १८९८ ई० में उनका स्वर्गवास हो जाने पर गोटिंजन के प्रोफेसर कीलहार्न ने इस परम वृहदाकार ग्रन्थ को पूर्ण करने का संकल्प किया। लगभग इसी समय में ए० कुह्न (A. Kuhn) और मैक्समूलर (Max Muller) ने बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ अपने अध्ययन का विषय वैदिक धर्म को बनाया। इनके अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप तुलनात्मक पुराण-विद्या के अनुशीलन का श्रीगणेश हुआ।

इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के आरम्भ होने तक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के प्रायः सभी वैदिक और लौकिक ग्रंथों का संपादन तथा अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनुसंधान के लिए आगामी क्षेत्र का निर्माण हो गया। अनेक अन्य विद्वान् भारतीय आर्यों के प्राचीन साहित्य आदि के अनुसंधान में और अधिक परिश्रम के साथ लग गए। मैकडॉनल, हॉपकिंस, हॉर्विट्ज़, विंटर्निट्ज़, पार्जिटर, ओल्डबर्ग पीटर्सन, हर्टल, ऐजर्टन, रिजवे, कीथ आदि विद्वानों ने वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य से संबद्ध अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रदान की हैं।

अंततः कहा जा सकता है कि पश्चिम में जिस संस्कृताध्ययन का श्रीगणेश हुआ उसकी देन बहुविध है। यद्यपि उसके मूल में ईसाइत के प्रसार की प्रवृत्ति तथा भारतीयों को अपने अधिकार में रखने की भावना विद्यमान है किंतु फिर भी इस अध्ययन ने संस्कृत साहित्य के अनुशीलन के लिए तुलनात्मक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की है। ग्रंथों के सम्पादन, पाठों के संशोधन, परिशिष्ट आदि के प्रचलन, इतिहास लेखन तथा सुन्दर संस्करणों को प्रस्तुत करने में पाश्चात्य विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान है। फलतः संस्कृत साहित्य के भारतीय विद्वान् इनके चिर-ऋणी रहेंगे।

प्रश्न ३—'संस्कृत एक बोलचाल की भाषा थी' विवेचना कीजिए।

संस्कृत भाषा पर विचार करते समय यह जानना आवश्यक है कि लोक-व्यवहार में उसका रूप क्या था। वह बोलचाल की भाषा थी अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में विद्वानों की प्रमुखतः दो धारणाएं हैं। एक धारणा के अनुसार तो प्राकृत ही बोलचाल की भाषा थी, संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा था। और दूसरी धारणा के अनुसार संस्कृत बोलचाल की भाषा भी रहा है। अब हम इन्हीं दोनों धारणाओं में से उचित मत की प्रतिष्ठापना कर उसका विवेचन करेंगे।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ का प्रणयन किया जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई। इस ग्रन्थ से यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान-स्थान पर भाषा कहा है। उन्होंने वैदिक कृदंत शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से की है जो लोक-व्यवहार में आते थे। उस समय विभिन्न प्रांतों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाए जाते थे उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरण के लिए 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कंबोज देश (वर्तमान पंजाब का पश्चिमोत्तर प्रांत) जाने के अर्थ में किया जाता था परन्तु इसका संज्ञापद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग करते थे। पूर्वी प्रांतों में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग काटने के अर्थ में होता था परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था। इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

यास्क के अतिरिक्त पाणिनि ने भी ऐसे अनेक नियमों का उल्लेख किया है जो केवल जीवित भाषा के संबंध में ही सार्थक हो सकते हैं।

पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) ने संस्कृत को लोक-व्यवहृत कहा है और अपने शब्दों के संबंध में उसने बताया है कि वे लोक प्रचलित हैं।

जन-श्रुति है कि भिक्षुओं ने बुद्ध के सामने विचार रखा था कि आप अपनी बोलचाल की भाषा संस्कृत को बना लें। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष (द्वितीय शताब्दी ई०) ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के हेतु अपने ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे। इससे यह अनुमान करना सुगम है कि संस्कृत प्राकृत की अपेक्षा जनसाधारण को अपनी ओर अधिक खींचती थी तथा संस्कृत ने कुछ समय के लिए खोए हुए पद को फिर प्राप्त कर लिया था।

ई० पूर्व दूसरी शताब्दी और उसके उपरांत के शिलालेख संस्कृत में ही अधिक मिल रहे हैं। इसी प्रकार से छठी शताब्दी के बाद के शिलालेख भी संस्कृत में ही मिलते हैं (जैन शिलालेखों को छोड़कर)। इनसे संस्कृत का बोलचाल की भाषा होना ही सिद्ध होता है क्योंकि शिलालेख प्रायः उसी भाषा में लिखे जाते हैं जिसे सर्वसाधारण पढ़ और समझ सकते हैं।

उत्तर भारत के बौद्धों के ग्रंथ प्रायः संस्कृत में ही चले आ रहे हैं। इससे सूचित होता है कि बौद्ध लोग तब जीवित भाषा संस्कृत की उन्नति के विरोध में सफल नहीं हो सके।

प्रसिद्ध यात्री ह्यूनसांग का कथन है कि सातवीं शताब्दी में बौद्ध लोग धर्मशास्त्रीय मौखिक वाद-विवाद में संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। जैनों ने प्राकृत को बिल्कुल छोड़ तो नहीं दिया था पर वे भी संस्कृत का व्यवहार करने लगे थे।

संस्कृत नाटकों में पात्र के बोलचाल के योग्य नाना प्राकृतों का भी प्रयोग रहता है। नायक एवं उच्च पद के अधिकारी पात्र (जिनमें तपस्विनियाँ भी सम्मिलित हैं) संस्कृत बोलते हैं किंतु स्त्रियाँ और निम्न वर्ग के पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो पात्र संस्कृत नहीं बोलते थे वे भी संस्कृत समझते अवश्य थे। इसके अतिरिक्त पर्याप्त प्रमाणों से यह संकेत

भी मिलता है कि संस्कृत नाटक खेले भी जाते थे और इसका यही अर्थ है कि दर्शक संस्कृत के वार्तालाप को समझते और उसके सौन्दर्य का रसानुभव भी करते थे।

साहित्य में ऐसे उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जनता के सामने रामायण और महाभारत के मूलमन्त्र पढ़कर सुनाए जाते थे। तब तो जनता वस्तुतः संस्कृत के श्लोकों का अर्थ समझ लेती होगी।

अनेन प्रकारेण ज्ञात होता है कि हिमालय और विंध्य के बीच फैले हुए सम्पूर्ण आर्यवर्त्त में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। इसका प्रयोग ब्राह्मण ही नहीं अन्य लोग भी करते थे। पतञ्जलि ने एक कथा लिखी है जिसमें कोई सारथी किसी वैयाकरण से सूत शब्द की व्युत्पत्ति पर वादविवाद करता है।

जनश्रुति है कि राजा भोज ने एक लकड़हारे के सिर पर बोझ देख कर परदुःखकातर हो उससे संस्कृत में पूछा कि तुम्हें यह बोझ कष्ट तो नहीं पहुंचा रहा और 'बाधति' क्रिया का प्रयोग किया। इस पर लकड़हारे ने उत्तर दिया—महाराज ! मुझे इस बोझ से उतना कष्ट नहीं हो रहा जितना 'बाधते' के स्थान पर आपके बोले हुए 'बाधति' पद से हो रहा है। इसी प्रकार से उस जुलाहे की बात हम कभी नहीं भूल सकते जिसने संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि, यत्नात् करोमि यदि, चारुतरं करोमि ।
भूपाल-मौलिमणि-मण्डितपादपीठ! हे साहसांक ! कवयामि वयामि यामि ॥

अंततः कहा जा सकता है कि जिस भाषा को रथ हांकने वाला, लकड़ी का बोझा उठाने वाला (लकड़हारा) और कपड़ा बुनने वाला (जुलाहा) समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध है।



: २ :

वैदिक साहित्य

प्रश्न ४—वैदिक साहित्य का संक्षिप्त किन्तु सर्वांगपूर्ण वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

विश्व-साहित्य की प्राचीनतम प्राप्य कृति ऋग्वेद है। संस्कृत साहित्य का श्रीगणेश भी इसी ग्रन्थ से होता है। इसी ग्रन्थ को आधार मान कर विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के इतिहास को दो कालों में विभाजित किया है—१. वैदिक साहित्य और २. लौकिक साहित्य।

भाव और विषय भेद आदि की दृष्टि से वेदों के चार भाग माने गए हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

ऋग्वेद में मन्त्र हैं जिनको ऋचा कहते हैं। ये मन्त्र पद्य में और प्रायः चार पंक्तियों के हैं। कहीं-कहीं पर दो या तीन पंक्तियों वाले मंत्र भी हैं। मंत्रों की रचना गायत्री, अनुष्टुप, जगती आदि प्रसिद्ध छन्दों में हुई है। ये मन्त्र प्रायः देवताओं की प्रार्थना के रूप में हैं, किन्तु कुछ में यज्ञ-सम्बन्धी एवं दार्शनिक भाव भी सम्मिलित हैं।

यजुर्वेद का अधिकांश भाग गद्य में लिखा गया है तथा इसके पद्य भाग में कुछ मन्त्र ऋग्वेद के भी सम्मिलित हैं। इस वेद की दो शाखायें शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद हैं। किन्तु दोनों का ही उद्देश्य है पौरोहित्य शिक्षा, विभिन्न यज्ञों के महत्व को स्पष्ट करना और उसका वर्णन करना।

सामवेद गानयुक्त वेद है। इसके गान दो प्रकार के हैं—१. ऊहगान, २. उह्यागान। इन्हें क्रमशः ग्राम-गान और आरण्य-गान भी कहते हैं। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रों का संकलन भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है, किन्तु उन्हीं का जो गेय हैं।

भारतीय अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं की जाती थी। वेदत्रयी के नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित थे उनमें ऋक् यजु तथा साम की ही गणना होती थी। पुरुष सूक्त में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख है, अथर्ववेद का नहीं। किन्तु बाद में अन्य तीन वेदों के साथ इसकी गणना भी की गई और इसको चौथा वेद माना गया। इसमें दिए गए मन्त्र आयु वृद्धि, प्रायश्चित तथा पारिवारिक एकता के लिए हैं। दुष्ट प्रेतात्माओं के निवारण के लिए तथा राक्षसों के शाप के लिए भी इसमें मन्त्र दिए गए हैं। इसमें आध्यात्मिक भावों से युक्त मन्त्र भी हैं तथा कुछ मन्त्र ऋग्वेद से भी लिए गए हैं। यह वेद यज्ञों के सम्बन्ध में विशेष उपयोगी नहीं है।

कालांतर में वेद-मंत्रों का महत्व बढ़ा। अतः वेद-मंत्रों का संकलन किया गया। इन संकलनों को संहिता के नाम से पुकारा गया। इन संहिताओं के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है किन्तु इनकी संख्या के सम्बन्ध में प्रायः सभी एकमत हैं। प्रायः सभी विद्वान् चार संहिताएँ बताते हैं—ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम संहिता और अथर्व संहिता।

कालांतर में वेद-मन्त्रों के विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता अनुभव की गई। फलतः ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इन ग्रन्थों में वैदिक पदों की याज्ञिक व्याख्या का वर्णन ही माना जाता है। किन्तु यह वस्तुस्थिति के अनुकूल नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विशेषतः शतपथ और जैमिनीय ब्राह्मणों में वेदार्थ की परम सम्पन्नता पाई जाती है। ये व्याख्यान विभिन्न प्रकरणों से सम्बन्ध रखते हैं।

प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं यथा, ऋग्वेद के दो ब्राह्मण है—ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि। इसी प्रकार से यजुर्वेद का शतपथ, सामदेव के ताण्डय महाब्राह्मण और उसके परिशिष्ट और अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण प्राप्य हैं। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण और सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण भी उल्लेखनीय हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मूलतः यज्ञ एवं ब्राह्मण धर्म का ही वर्णन किया गया है, वैसे ब्राह्मणों और यजमानों के कर्तव्य, सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत, शब्द-व्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास एवं ऐसी जन-कथाओं का उल्लेख भी है जिनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की झाँकी विद्यमान है।

ब्राह्मणों के अंतिम भाग आरण्यक कहलाते है। इन आरण्यकों के पाठ बड़े रहस्यमय हैं। इनमें वेदों के अध्यात्म-पक्ष का विवेचन है। यज्ञों की क्रिया और अनुष्ठानों की विधि के साथ ही साथ, यज्ञों के रहस्यादि और पुरोहितों के कार्यों का विवेचन भी इन ग्रन्थों में किया गया है।

आरण्यकों का विस्तार उपनिषदों में पाया जाता है। ये संख्या में १०८ हैं किन्तु निम्नलिखित ११ उपनिषद् वेदांत के प्रसिद्ध आचार्यों के द्वारा विभूषित किए जाने के कारण नितांत महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध माने जाते हैं—१. ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डूक्य, ७. तैत्तिरीय, ८. ऐतरेय, ९. छान्दोग्य, १०. बृहदारण्यक और ११. श्वेताश्वतर।

इन उपनिषदों में कुछ गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्य-पद्यात्मक उभयरूप। इन उपनिषदों में भी छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक भाषा तथा सिद्धांत की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण तथा प्राचीन माने जाते हैं।

उपनिषदों में प्रधान रूप से तर्क का स्थान है। युक्ति के द्वारा आत्मा के स्वरूप का परिचय कराया गया है। उपासना का विचार भी इनमें है किन्तु गौण रूप से, तथा वह भी आत्मा के साक्षात्कार करने के लिए है। गुरु-शिष्य के कथोपकथनों के रूप में ज्ञान की बातें सिखायी गई है।

उपनिषदों में अविद्या—नाश के उपाय कहे गए हैं और विद्या या परब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप का निरूपण है। किस प्रकार उस परब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है तथा दुःख की चरम निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, ये सभी बातें उपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय हैं। इसने शिष्यों को समझाने के लिए युक्तियाँ दी गई हैं तथा उन्हें इन युक्तियों का प्रामाण्य

भी बतलाया गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि उपनिषद् के सिद्धांतों की शिक्षा देने वाले आचार्य ब्रह्मज्ञानी थे तथा शिष्य ब्रह्म-विद्या को ग्रहण करने के अधिकारी थे। ये सभी बातें कठोपनिषद् में यमराज और नचिकेता के कथोपकथन से स्पष्ट होती हैं।

वैदिक साहित्य का अन्तिम सोपान सूत्र ग्रन्थों में पाया जाता है। ये वे ग्रन्थ हैं जिनका निर्माण वेदों के अध्ययन, उनका अर्थ ठीक जानने, उनकी ठीक व्याख्या करने तथा यज्ञभेद के समय उनका ठीक विनियोग करने के लिए हुआ। इन ग्रन्थों को वेदांग की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। ये वेदाङ्ग संख्या में छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। इनमें व्याकरण वेद का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका और छन्द दोनों पाद। इस प्रकार वेदांग का सम्बन्ध वेदों के साथ पूर्णतः जुड़ जाता है।

शिक्षा—इसमें वैदिक संहिताओं के ठीक-ठीक उच्चारण का विवेचन किया गया है। वेदपाठ में स्वरों का बड़ा महत्व है। स्वर की अशुद्धि से महान् अनर्थ हो जाता है। अतः स्वर की सही शिक्षा के लिए अलग वेदांग की रचना की गई।

छन्दस—वेद के मन्त्र छन्दोबद्ध हैं; अतः छन्दों का ज्ञान प्राप्त किए बिना वेद-मन्त्रों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। इसलिए छन्दों के पर्याप्त विवेचन के लिए अलग ग्रन्थ रचे गए। इनमें ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र, सामवेद का निदान सूत्र, पिंगल का छंद सूत्र तथा शाख्यायन के श्रोत-सूत्रों का एक भाग प्रमुख है। इन सब ग्रन्थों में वैदिक छन्दों का ही विशेष-रूप से विवेचन किया गया है। किंतु पिंगल नामक किसी आचार्य द्वारा रचे गए पिंगल ग्रन्थ में वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन मिलता है।

निरुक्त—निरुक्त में वेदों की व्याख्या के प्रथम प्रयास का उल्लेख है। सबसे प्राचीन निरुक्त यास्क का ही प्राप्य है। उसने अपने पूर्ववर्त्ती १७ निरुक्त-कारों का उल्लेख किया है परन्तु उनके ग्रन्थ उसको भी उपलब्ध नहीं हुए थे।

उन्हें तो अपने पूर्व विद्यमान वैदिक शब्दों की सूची ही उपलब्ध हुई थी, जिसे निघण्टु के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यास्क ने इसी निघण्टु पर निरुक्त नाम की टीका की है।

व्याकरण—इस वेदाङ्ग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझाना और वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल इस पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ पाणिनि कृत अष्टाध्यायी है, किन्तु उसने अपने पूर्ववर्ती गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। इनसे भी पूर्व प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थ थे जिनमें स्वर, छन्द के साथ व्याकरण का भी विशेष वर्णन था।

इन वैय्याकरणों (पाणिनि और उसके पूर्ववर्त्ती) ने जो कार्य किया है वह बहुत उच्चकोटि का है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल का कथन है—"भारतीय वैयाकरणों ने ही विश्व में सर्वप्रथम शब्दों का विवेचन किया है, प्रकृति और प्रत्यय का अंग पहचाना है, प्रत्ययों के कार्य का निर्धारण किया है, सब प्रकार से परिपूर्ण और अति-विशुद्ध व्याकरण पद्धति को जन्म दिया है, जिसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्य नहीं है।"

ज्योतिष—इसका जन्म यज्ञों की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ और वेद के विभिन्न अंगों में इसने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। इसका कारण यह है कि वेद यज्ञ के प्रतिपादन के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं और काल के उचित निवेश से यज्ञ का सम्बन्ध है। इसकी प्रतिनिधि रचना 'वेदांग-ज्योतिष' है जिसमें २७ नक्षत्रों, चन्द्रमा तथा सूर्य आदि ग्रहों पर विचार किया गया है।

कल्पसूत्र—कल्पसूत्र की उत्पत्ति वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थों से हुई है। इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ सूत्र रूप में हैं। इन सूत्रों का अर्थ व्याख्याओं के द्वारा ही समझा जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो लम्बे और क्लिष्ट

विवरण दिए गए हैं वे यज्ञों के समय पूर्णरूप से स्मरण नहीं रह सकते थे, फलतः इसके लिए सूत्ररूप को अपनाया गया।

कल्पसूत्र को विद्वानों ने चार भागों में विभाजित किया है—१. श्रौत २. गृह्य ३. धर्म और ४. शुल्व।

श्रौतसूत्रों में दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य इन तीन अग्नियों की पूजा और दर्शपूर्णमास, सोम आदि यज्ञों के करने का वर्णन किया गया है। गृह्य सूत्रों में गर्भादान से लेकर अन्त्येष्टि तक समस्त संस्कारों का वर्णन किया गया है। साथ ही समाज में प्रचलित प्रथाओं आदि का भी वर्णन है। धर्मसूत्रों में नीति, धर्म, रीति और प्रथाएँ, चारों वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों आदि का वर्णन है। शुल्वसूत्रों में यज्ञवेदी के निर्माण से सम्बन्धित नाप आदि का तथा वेदी के बनाने आदि के नियमों का वर्णन है।

वेदांगों के साथ-साथ वेद की सुरक्षा के लिए पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ तथा ऋषि, देवता और छंदों की अनुक्रमणियों की रचना भी की गई।

अनेनप्रकारेण हम कह सकते हैं कि वेद और उनका साहित्य अत्यन्त विशाल है।

प्रश्न ५—'वेदों के अध्ययन से भारतीय आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।' इस विषय पर विवेचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतीय आर्य आरम्भ में ही वीर और शक्तिशाली जाति के थे। वह सुन्दर आकृति के थे। उनका रंग सफेद था और शरीर विशाल था। वे सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। उनका सिर लम्बा था। नाक पतली और लम्बी थी। उनके कन्धे चौड़े थे और भुजाएँ लम्बी थीं। वे कविता करते थे और उनका हृदय उदार था। वह अकेले नहीं रहते थे किन्तु बड़े-बड़े दल बना कर रहते थे। एक दल में अनेक परिवार थे और प्रत्येक परिवार में पिता का पद ही प्रधान था। धीरे-धीरे

थे परिवार गाँव बना कर रहने लगे। धीरे-धीरे किलेबन्दी की रीति पड़ गई। वह केवल युद्ध करने में ही व्यस्त नहीं रहते थे किन्तु उनकी आजीविका का साधन खेती-बाड़ी भी था। जीवन-निर्वाह का दूसरा साधन पशु-पालन था। पशुओं की संख्या अधिक थी। उनसे नाना प्रकार के काम लिये जाते थे। भेड़ और बकरी प्रचुर संख्या में थे। गधे माल ले जाने के काम आते थे। घोड़े भी मिलते थे। उनका उपयोग सवारी में होता था। वे युद्ध के काम में भी आते थे। आखेट भी उन्हें बहुत अच्छा लगता था। कुत्तों को शिकार के काम में लाया जाता था। शिकार जीवन में आनन्द का एक अच्छा साधन था। उससे मन-बहलाव होता था तथा भोजन भी प्राप्त होता था। आखेट में बल तथा पौरुष प्रदर्शन करने का अवसर भी प्राप्त होता था।

गाय और बैल भी पाये जाते थे। गाय बड़ी ही उपकारिणी थी। उससे दूध प्राप्त होता था। बैल खेती के काम में आते थे, हल चलाते थे, और गाड़ियाँ चलाने में भी उनका उपयोग होता था। खेती उन्नत दशा में थी। नाना प्रकार के फल, तरकारी और अनाज उत्पन्न होते थे। सिंचाई के बहुत से साधन थे। कूएँ, तालाब और छोटी-छोटी नहरें भी थीं। कभी-कभी वर्षा का अभाव हो जाता था और सूखा पड़ जाता था। ऐसे अवसर पर बड़े जोर का अकाल पड़ जाता था। ऐसे समय में निर्धन मनुष्यों के जीवन के लाले पड़ जाते थे। मकान बहुत सुन्दर लकड़ी के बनते थे। मकान बड़े होते थे जिनमें बहुत से कमरे होते थे। यद्यपि आर्य भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते थे किन्तु उनके रीति-रिवाज फिर भी समान ही थे। ऋग्वेद के समय तक जात-पाँत का भेद-भाव न था। किन्तु बहुत से कारणों से भिन्न-भिन्न वर्ग बन रहे थे जो भविष्य में जात-पाँत के अंकुर थे।

विवाह के पूर्व सगाई पक्की होती थी। सगाई होने पर विवाह की एक तिथि निश्चित की जाती थी। निश्चित तिथि पर वर बड़े ठाठ-बाट से बारात लेकर वधू के घर जाता था। नियत मुहूर्त्त पर वर वधू को एक पत्थर पर चढ़ाकर उसका पाणिग्रहण करता था। अग्नि की परिक्रमा की जाती थी।

विवाह की प्रथा समाप्त होने पर बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता था। उत्सव में युवक-युवतियाँ, स्त्री-पुरुष सब भाग लेते थे। अच्छे से अच्छे वस्त्र धारण करते और आभूषणों से अपने शरीर को सुसज्जित करते थे। इनकी शोभा और सुन्दरता अपार हो जाती थी। उत्सव समाप्त होने पर वर वधू को रथ पर बैठा कर अपने साथ घर ले जाता था। विवाह की प्रथा आजकल की प्रथा से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी यथा आजकल की तरह उस समय भी केवल एक विवाह करने की प्रथा थी। केवल राजा-महाराजा या बड़े पुरोहित एक से अधिक विवाह करते थे। उनका जीवन दुःखमय रहता था। घरेलू झगड़े रहते थे। शांति भंग हो जाती थी। आर्थिक कारणों से भी साधारण श्रेणी के मनुष्य केवल एक ही विवाह करते थे।

ऋग्वेद की ऋचाओं का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि विधवा-विवाह का निषेध न था। किन्तु एक बात का पता ठीक रीति से नहीं लगता कि विधवा केवल अपने देवर के साथ विवाह कर सकती थी अथवा किसी अन्य पुरुष के साथ भी विवाह कर सकती थी।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक ऋचा है जो 'आर्य सभ्यता में विधवाओं का स्थान' पर कुछ प्रकाश डालती है। मरघट में अपने पति के पास लेटी हुई विधवा से कहते हैं, 'उठो स्त्री! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो गया है। अपने पति से दूर हट कर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे विवाह करने को राजी है।'

अथर्ववेद में लिखा है कि "यह स्त्री (अर्थात् विधवा) पुराने धर्म का पालन करती हुई, तुम्हारे पास जो मर गये, पड़ी है (पर) इसको यहीं सन्तान और सम्पत्ति दो। उठो स्त्री! जीवित के संसार में आओ........ (पूर्ववत्)"

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से भारतीय आर्यों के राजनीतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि शासन-प्रणाली के विषय में ऋग्वेद

से पूर्ण ब्यौरा प्राप्त नहीं होता किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि राजा का पद पैतृक होता था। राजा का पद बड़ा ही उच्च माना जाता था। समाज में उसका बड़ा मान और आदर होता था। उसकी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। जो राजा की आज्ञाओं की अवहेलना करता था उसके साथ बलप्रयोग का व्यवहार किया जाता था।

इससे प्रकट होता है कि राजा की शक्ति बड़ी मानी जाती थी और समाज में उसका आदर होता था।

राजा का भी यह कर्तव्य था कि वह अपनी प्रजा पर कृपा रखे। उदाहरण के लिये राजा लोगों को उपहार देते थे। एक ऋषि कहता है कि देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है। एक और स्थान पर इसी बात का उल्लेख मिलता है कि सोम पवमान राजा की तरह सेनाओं के ऊपर बैठता है। इससे प्रकट होता है कि सेना का नेतृत्व राजा का धर्म था। इन्द्र एक के बाद दूसरी लड़ाई लड़ता था और एक के बाद दूसरे पुरु को तोड़ता था। राजा का ऐसा ही कर्त्तव्य था और राजा बड़े ही ठाठ-बाट से रहता था।

राजा स्वत: कार्य नहीं करता था, किन्तु राज्य भार सँभालने के लिए और भी बहुत से सहायक हुआ करते थे। राज्य में बहुत से पदाधिकारी भी हुआ करते थे जैसे—पुरोहित, हरकारे, सेनानी, ग्रामीण, वज्रपति इत्यादि। पुरोहित राज्य का एक बड़ा पदाधिकारी माना जाता था और राजा के साथ रहता था। राज-काज में सहायक होता था और युद्ध में साथ रहता था। उसकी मन्त्रणा के बिना कोई भी विशेष महत्व का कार्य नहीं हो सकता था। हरकारे सच्चे, बुद्धिमान तथा परिश्रमी होते थे। वे चारों ओर देख-भाल करने का काम करते थे। रक्षा का प्रबन्ध करना तथा समाचारों का लाना इन्हीं का कर्त्तव्य था। सेनानी के पद को राजा नियुक्त करता था। यह सेना का नायक होता था और युद्ध के समय बड़ा ही उपयोगी माना जाता था। ग्रामीण ग्राम के मुखिया या नेता को कहते थे, उसका पद पैतृक था। गाँव के

मनुष्य उसको निर्वाचित करते थे अथवा राजा उसे नियुक्त करता था इस बात का पता नहीं किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ग्रामीण का पद बहुत बड़ा माना जाता था। वह राज्य के मुख्य अधिकारियों में गिना जाता था। ऋग्वेद में वज्रपति का वर्णन आया है किन्तु ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय ग्रामीण से ही है।

वैदिककाल में राजा निरंकुश न होते थे। वह अपनी इच्छानुसार मनमाना राज्य न कर सकते थे। उन्हें जनता की बात माननी पड़ती थी और जनता के भी बहुत अधिकार हुआ करते थे। वैदिक साहित्य में सभा और समिति का उल्लेख बहुत बार आता है। भिन्न-भिन्न विद्वानों के इसके विषय में अलग-अलग मत हैं जो इस प्रकार हैं :

(१) **लड्विग्**—समिति में सब लोग रहते थे; पर सभा में केवल बड़े आदमी अर्थात् मघवन और ब्राह्मण ही बैठते थे।

(२) **सिमिर**—सभा तो केवल गाँव के लोगों की थी और समिति सारी जनता की।

(३) **हिलीब्रांट और मेक्डानल**—सभा और समिति में कोई विशेष भेद नहीं था।

(४) **कीथ**—सभा और समिति में कोई ऐसा भेद नहीं प्रतीत होता जिससे हम दोनों को अलग-अलग मान सकें। समिति का अर्थ जनता से है और सभा का अर्थ बैठने के स्थान से है।

अथर्ववेद में सभा और समिति को दो पुत्रियाँ कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों संस्थाएँ एक दूसरे से मिलती जुलती अवश्य थीं; पर नाम अलग-अलग थे। डा० जायसवाल के मतानुसार समिति सब प्रजा की एक सभा होती थी। इसमें प्रजा के सब मनुष्य भाग लेते थे। समिति ही राजा का निर्वाचन करती थी। समिति में एकत्रित होने वाले लोग एकमत होकर राजा का निर्वाचन करते थे और उससे शासनाधिकार ग्रहण करने की प्रार्थना करते थे। उससे यह आशा की जाती थी कि वह अपने पद से च्युत

न होगा। शत्रुओं का दलन करेगा और कर्तव्य का पालन करेगा। राजा के निर्वाचन के समय निम्न गीत गाया जाता था—

"आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥१॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत्।
इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय॥२॥
इन्द्र एतमदीधरद्-ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधिब्रवदयं च ब्रह्मणस्पति॥३॥"

× × ×

"ध्रुवाद्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम्॥१॥
ध्रुवंते राजा वरुणो ध्रुव देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवंतइन्द्रस्याग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥२॥
ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रूं छत्रूयतोऽधरान पादयस्व।
सर्वादिशः संमनसः सध्रीचीः ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह॥३॥"

अर्थात् "तुम हर्षपूर्वक हम लोगों में आओ, अविचल रूप से स्थिर हो; सब लोग तुम्हें चाहते हैं; तुम राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।"

"तुम यहाँ पर्वत के समान दृढ़ रहो और तुम्हारा पतन न हो। तुम यहाँ इन्द्र के समान अविचल रहो और राष्ट्र को धारण करो।"

"इन्द्र ने हवि के कारण इस राष्ट्र को दृढ़ता पूर्वक किया है। इसके लिए ब्रह्मणस्पति ने भी ऐसा कहा है।"

"प्रजा का यह राजा वैसा ही ध्रुव हो जैसा ध्रुव स्वर्ग है, जैसी ध्रुव पृथ्वी है, जैसा ध्रुव विश्व है और जैसे ध्रुव पर्वत हैं।"

"तुम इस राष्ट्र को धारण करो, राजा वरुण और देवता बृहस्पति इन्द्र तथा अग्नि इसे ध्रुव करें।"

"तुम दृढ़ता और निश्चयपूर्वक शत्रुओं को पराजित करो और जो लोग शत्रुता का आचरण करें उन्हें अपने पैरों से कुचल डालो। सब दिशाएँ एकमत होकर तुम्हारा सम्मान करती हैं और ध्रुवता (दृढ़ता) के लिए समिति यहाँ तुम्हारी कल्पना (नियुक्ति) करती है।"

समिति की बैठकों में राजा का भाग लेना आवश्यक समझा जाता था। राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त समिति के दूसरे और भी कर्त्तव्य होते थे।

सभा में केवल बुद्धिमान पुरुष ही भाग लिया करते थे। सभा का एक मुख्य कार्य न्याय करना था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कर्त्तव्य होते थे। जातक में एक स्थान पर ऐसा वर्णन किया गया है कि जिस सभा में बुद्धिमान पुरुष न हों वह सभा ही नहीं है। बुद्धिमान पुरुषों की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि वह अपने भावों तथा विचारों की चिन्ता नहीं करते और केवल न्याय संगत बात ही कहते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय केवल समिति और सभा ही सार्वजनिक संस्थाएँ नहीं थीं, अपितु निरथ और सेना आदि अन्य संस्थाएँ भी थीं। उस समय सभ्यता का आदर्श बहुत ही उच्च था, राजा न्यायपूर्वक शासन करता था और प्रजा सुख-चैन से जीवन व्यतीत करती थी।

प्रश्न ६—वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

भारतीय वाङ्मय का प्राचीन भाग संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध होता है। यह संस्कृत भाषा भी दो रूपों में दृष्टिगत होती है। इसका प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है और अर्वाचीन रूप लौकिक संस्कृत नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य और लौकिक संस्कृत में प्रणीत साहित्य में भी पर्याप्त साम्य-वैषम्य दृष्टिगत होता है। फलतः तुलनाप्रधान इस युग में इन दोनों प्रकारों के साहित्य का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाने लगा है। यह तुलनात्मक अध्ययन प्रायः प्रतिपाद्य

विषय, भाषाशैली तथा काव्य-बंध आदि की दृष्टि से किया जाता है और आगामी पंक्तियों में हम भी इसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। अस्तु।

प्रतिपाद्य विषय—प्रतिपाद्य की दृष्टि से वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जहाँ वैदिक साहित्य में लौकिक जीवन के स्थान पर धर्मपरक साहित्य का नियोग हुआ है वहाँ लौकिक संस्कृत में धर्म-वर्णन के साथ ही साथ लौकिक विषयों और लौकिक जीवन को यथेष्ट मात्रा में अपनाया गया है। लौकिक संस्कृत साहित्य में नए-नए देवी-देवताओं की कल्पना-परिकल्पना भी देखने को मिलती है। उसमें जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की सत्ता को स्वीकार कर अग्नि, वायु, वरुण, मरुत आदि को गौण स्थान प्रदान किया गया है वहाँ गणेश, कुबेर, सरस्वती तथा लक्ष्मी आदि कुछ नए देवी-देवताओं को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इसी प्रकार से वैदिक साहित्य में पुरुषार्थ के चारों अंगों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—में यदि धर्म और मोक्ष की प्रधानता है तो लौकिक संस्कृत-साहित्य में अर्थ और काम की ओर ही विशेष प्रवृत्ति दीख पड़ती है। वास्तव में दोनों साहित्यों की धार्मिक भावनाओं में पर्याप्त अन्तर है। लौकिक काल में उपनिषदों के प्रभाव से एक नैतिक भावना ओत-प्रोत है। यहाँ वैदिक धर्म की सरलता निःशेष हो गई है। तथा एकेश्वरवाद के स्थान पर त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का प्राधान्य हो गया है। कुछ अन्य देवताओं कुबेर, गणेश, कार्त्तिकेय, श्री या लक्ष्मी, दुर्गा या पार्वती, सर्प देवता, गंधर्व और राक्षसों आदि की प्रधानता भी देखने को मिलती है। वैदिक काल में ये विशेष भावों या स्थितियों के द्योतक थे। इनकी वह पृष्ठ-भूमि अब लुप्त हो गई है। यहाँ पर अवतारवाद और अलौकिक घटनाओं में विश्वास प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार से वैदिक साहित्य का समाज जहाँ दो प्रकार का समाज है आर्य और दस्यु, विजेता और विजित का वहाँ लौकिक संस्कृत साहित्य का समाज निश्चित रूप से वर्णाश्रम व्यवस्था को लेकर चलने वाला पौराणिक ब्रह्म-

समाज है। इतना ही नहीं लौकिक संस्कृत साहित्य का समाज सामंतवाद का समाज है सार्वभौम सम्राटों और राजाओं का समाज।

प्रतिपाद्य की दृष्टि से एक अन्य ध्यातव्य तथ्य यह है कि लौकिक संस्कृत साहित्य में जहाँ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों, पौराणिक गाथाओं तथा लौकिक घटनाओं का अत्यन्त कलापूर्ण वर्णन देखने को मिलता है वहाँ वैदिक साहित्य में इन सभी का लोप है। वैदिक साहित्य में तो सरल और स्वाभाविक भाषा में धार्मिक भावों से ओत-प्रोत साहित्य का ही प्रणयन हुआ है, उसमें लौकिक जीवन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

भाषा-शैली—प्रतिपाद्य विपय के समान ही भापा-शैली की दृष्टि से भी वैदिक और लौकिक साहित्य में पर्याप्त असमानताएँ दृष्टिगत होती हैं। लौकिक साहित्य की भाषा वैदिक भापा के समान सरल न होकर पाणिनि के जटिल नियमों में जकड़ी हुई है। यहाँ पर समासों और अलंकारों का बाहुल्य है। इतना ही नहीं कितने ही व्याकरणिक नियम तो ऐसे हैं जो वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत तक आते-आते पूर्णतः परिवर्तित अथवा लुप्त हो गए हैं उदाहरण के लिए वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का तृतीय बहु-वचन दो प्रकार का होता है यथा—'देवेभिः' तथा 'देवैः' किन्तु लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ही ग्राह्य है। इसी प्रकार से वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से तथा ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे 'अश्विना' तथा 'सुष्टुती'। किन्तु लौकिक संस्कृत में 'औ' तथा तृतीया एकवचन में 'आ' प्रत्यय का प्रयोग होता है यथा 'अश्विनौ', सुष्टुतया'। इतना ही नहीं वैदिक संस्कृत में यदि सप्तमी का एकवचन अनेक स्थानों पर लुप्त हो जाता है तो लौकिक संस्कृत में इस लोप के दर्शन नहीं होते, वैदिक संस्कृत में लोट लकार मध्यम पुरुप बहुवचन में त्, तन्, थन्, तात् आदि प्रत्यय लगते हैं यथा 'शृणोत सुनोतन' आदि तो लौकिक संस्कृत में बहुवचन के अन्तर्गत इस लकार में ऐसे रूपों के दर्शन नहीं होते। कहने का अभिप्राय यह है कि लौकिक संस्कृत साहित्य में वैदिक रूपों की स्मृद्धि का ह्रास हो गया है। वस्तुतः व्याकरणिक

दृष्टि से वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

केवल व्याकरणिक दृष्टि से ही नहीं अपितु शब्द-भण्डार की दृष्टि से दोनों प्रकार के साहित्यों में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक साहित्य के अनेक शब्दों के अर्थ लौकिक साहित्य में आकर परिवर्तित हो गए हैं। वैदिक साहित्य से भिन्न लौकिक साहित्य में प्रत्ययों के प्रयोग से नए पद बना लिए गए हैं, कुछ नए शब्द भी लौकिक संस्कृत के साहित्य में देखने को मिलते हैं।

वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जिस महत्वपूर्ण तथ्य की उपलब्धि होती है वह यह है कि वैदिक साहित्य में जहाँ व्याकरण सम्बन्धी कोई बंधन न था वहाँ लौकिक-संस्कृत साहित्य पाणिनि के नियमों में जकड़ सा गया है। इसी प्रकार से वैदिक साहित्य में जहाँ सरल और थोड़े से छन्दों एवं अलकारों का प्रयोग हुआ है वहाँ लौकिक संस्कृत साहित्य में बहुत अधिक कठिन अलंकारों और छंदों के दर्शन होते हैं। लौकिक संस्कृत के छंद तो पर्याप्त परिश्रम के साथ रचे गए हैं, क्योंकि इन छन्दों में प्रत्येक चरण के वर्णों या मात्राओं की संख्या दृढ़ता के साथ स्थिर की गई है। वस्तुतः काव्य-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों-उपांगों से अपरिचित तथा व्याकरण के विभिन्न नियमों से अनभिज्ञ पाठक लौकिक संस्कृत साहित्य का रसास्वादन करने में तनिक भी सफल नहीं हो सकता। लौकिक संस्कृत साहित्य का रचयिता अपने कल्पना-चातुर्य और अपनी लेखन-शैली की पटुता से पाठकों की प्रशंसा प्राप्त करने का प्रयास करता है, प्रायः हृदय का आश्रय न लेकर मस्तिष्क और बुद्धि को प्रभावित करता है।

वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य में शैली विषयक कुछ अन्य असमानताएँ भी पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए वैदिक संस्कृत साहित्य में जहाँ गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग मिलता है वहाँ लौकिक साहित्य में गद्य का लगभग लोप ही हो गया है। केवल दर्शन और

व्याकरण ग्रन्थों में सूत्र शैली के परम संक्षिप्त और दुरूह गद्य के ही दर्शन होते हैं। कथा साहित्य और नाटकों मे साहित्यिक गद्य की छटा देखने को मिलती है किन्तु यह गद्य समास आदि की बहुलता के कारण दुरूह सा हो गया है।

काव्य-बंध—वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में काव्य-बंध विषयक असमानताएँ भी देखने को मिलती हैं। महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक, जंतु-कथाओं, लोककथाओं और गद्यकाव्यों का जैसा चारु रूप लौकिक संस्कृत साहित्य में देखने को मिलता है वैसा वैदिक संस्कृत साहित्य में नहीं। इस काल में वैज्ञानिक साहित्य के विभिन्न अङ्गों—शिक्षा, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद और धर्म में भारतीयों ने अति उत्कर्षता की प्राप्ति की।

अन्ततः कहा जा सकता है कि वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में प्रतिपाद्य विषय, भाषा-शैली और काव्य-बंध आदि की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है।



: ३ :

रामायण, महाभारत और पुराण

प्रश्न ७—रामायण के रचना-काल और प्रक्षिप्त अंश की समीक्षा करते हुए उसके काव्य-कौशल पर प्रकाश डालिये।

संस्कृत साहित्य में रामायण आदि काव्य और उसके प्रणेता महर्षि बाल्मीकि आदि कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। संस्कृत के परवर्ती साहित्य पर इस रचना का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। भास, कालिदास तथा अन्य संस्कृत के कवियों ने इसी से प्रभावित होकर अपने महाकाव्यों की रचना की है। भवभूति, मुरारि और दामोदर मिश्र प्रभृति नाटककारों ने रामायण की कथा के आधार पर ही अपनी रचना का ठाठ खड़ा किया है। जैन साधु विमलसूरि का ग्रन्थ भी रामायण के आधार पर ही लिखा गया है। बौद्ध ग्रन्थों के तिब्बती तथा चीनी अनुवादों में भी राम के शौर्य की कथाएँ विद्यमान हैं जो सम्भवतः रामायण की ही देन है। किन्तु इतना होने पर भी यह एक विवादास्पद विषय है कि रामायण का रचना-काल क्या है, उसके प्रक्षिप्त अंश कौन-कौन से हैं? आगामी पंक्तियों में हम इन्हीं विषयों पर विचार करते हुए अपने मन्तव्य की स्थापना करेंगे।

रचना-काल—किसी भी रचना का रचना-काल निश्चित करने के लिए दो आधार हुआ करते हैं—१. बाह्य साक्ष्य २. आभ्यन्तरिक साक्ष्य; और रामायण के रचनाकाल का निर्णय भी हम इन्हीं दोनों के आधार पर करेंगे।

बाह्य साक्ष्य—रामायण के महाकाव्य के विकास एवं रचनाकाल पर दृष्टि-निक्षेप करने से ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य में रामायण का उल्लेख कहीं नहीं है। वैसे रामकथा का कुछ आभास वैदिक साहित्य में अवश्य प्राप्त हो जाता है। किन्तु इतना होने पर भी यह निश्चयरूपेण नहीं कहा जा सकता कि

उपनिषदों में प्रसिद्ध राजा जनक रामायण में वर्णित मिथिला-नरेश ही हैं। ऋग्वेद में सीता का देवी रूप में वर्णन मिलता है तथा सूत्र ग्रन्थों में सीता की प्रार्थना मिलती है। इसी प्रकार से वेवर ने रामायण का सम्बन्ध यजुर्वेद से जोड़ने का प्रयास किया है तथा जेकोबी ने तो इन्द्र तथा वृत्रासुर के युद्ध को राम-रावण का युद्ध ही बतला दिया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वैदिक साहित्य की अस्पष्ट एवं रहस्यपूर्ण भाषा के कारण किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन है।

रामायण की प्राचीनतम प्रति महाभारत की प्राचीनतम प्रति से अधिक पुरानी है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसका कारण यह है कि रामायण में महाभारत के किसी पात्र का उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु महाभारत के सातवें पर्व में रामायण के छठे काण्ड से दो श्लोक उद्धृत किए गए हैं और महाभारत के तीसरे पर्व के २७७ से २९१ तक के अध्यायों में रामोपाख्यान है जो रामायण पर आधृत प्रतीत होता है। वस्तुतः महाभारत के रामोपख्यान का वक्ता इस तथ्य का विश्वासी प्रतीत होता है कि महाभारत के श्रोताओं को रामकथा पूर्णतः ज्ञात है।

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से भी ऐसा ज्ञात होता है कि रामायण का प्रणयन बौद्ध काल से पहले हुआ होगा। रामायण के बौद्ध से पूर्ववर्त्ती होने के प्रमाण रूप में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं—

१. पालि जातकों में दशरथ जातक किंचित परिवर्त्तन के उपरान्त आया है। इतना ही नहीं रामायण का एक श्लोक (६,१२८) भी उस जातक में भाषा-रूपान्तर के उपरान्त उद्धृत है।

२. प्रोफेसर सिलवन लेवी के मतानुसार बौद्ध ग्रन्थ सद्धर्मस्मृत्युपस्थान निस्सन्देह वाल्मीकि का ऋणी है। उक्त ग्रन्थ का जम्बू द्वीप वर्णन रामायण के दिग्वर्णन से बिल्कुल मिलता है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में नदियों, समुद्रों, देशों और द्वीपों का उल्लेख बिल्कुल उसी शैली से किया गया है जिस शैली से यह रामायण में है। वे पुनः कहते हैं कि यदि कहा जावे कि शायद वाल्मीकि

ने ही बौद्ध-स्मृतियों से कुछ लिया हो तो यह बात ठीक नहीं। क्योंकि ब्राह्मण धर्म के बारे में इतने कट्टर थे कि उनके द्वारा बौद्ध ग्रन्थों से कुछ लेने की सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त रामायण में उच्चतम सदाचार की शिक्षा है, जिसे बाल्मीकि ने किसी अविस्पष्ट बौद्ध ग्रन्थ से नहीं लिया होगा। हाँ, इसके विपरीत बौद्धों द्वारा ब्राह्मणो के ग्रन्थो से बहुत कुछ लेने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

३. एच० जैकोबी के मतानुसार भाषा के आधार पर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रामायण बौद्ध-काल से पहले की रचना है।

आभ्यन्तरिक साक्ष्य—आभ्यन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर भी रामायण का रचना-काल बौद्ध-काल से पहले ही ठहरता है। क्योंकि—

१. रामायण में राम सोन और गंगा के सङ्गम से होकर जाते हैं पर वहाँ पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता। वास्तव में पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पू० में मगध-नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह साधारण ग्राम मात्र था, जिसका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में 'पाटलिग्राम' से प्राप्त होता है। अजातशत्रु ने शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गङ्गा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया। कहा जा सकता है कि रामायण ५०० ई० पू० से पहले लिखा गया।

२. कौशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है किन्तु जैन और बौद्ध ग्रंथों में वह अयोध्या के स्थान पर साकेत नाम से ही विख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की। अतः रामायण की रचना उस समय की गई होगी जब अयोध्या को छोड़ कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कौशल के राजा 'प्रसेनजित' श्रावस्ती में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना बुद्ध से पहले हुई।

३. गङ्गा पार करने के उपरांत राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके अधिपति का नाम सुमति था। इसने इन लोगों की बड़ी अभ्यर्थना की—

गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशु पुरीम् । इक्ष्वाकु की 'अलम्बुसा' नामक रानी से उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था । इसीलिए यह विशाला के नाम से प्रख्यात थी । रामायण में 'विशाला' और 'मिथिला' दो स्वतन्त्र राजतन्त्रों का उल्लेख किया गया है किन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य पृथक् स्वतन्त्र न होकर वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिए गए थे और शासन-विधान भी गणतन्त्र राज्य के समान था । अतः रामायण बुद्ध-युग से पूर्व की रचना होनी चाहिए ।

४. रामायण में भारत के दक्षिणी अंश को एक विराट् अरण्य के रूप में चित्रित किया गया है । वहाँ वन्दर, भालू आदि असभ्य या अर्ध-सभ्य जातियों को निवास करते हुए दिखाया गया है । इन देशों में आर्य सभ्यता के प्रसार से पूर्व यही अवस्था थी । फलतः रामायण का निर्माण-काल दक्षिणी-भारत के आर्य बनने से पूर्व का ही मानना चाहिए ।

५. रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उत्तरी भारत कौशल, अङ्ग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था । लेकिन इस प्रकार की राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगत होती है ।

६—रामायण पाणिनि से पूर्ववर्ती है, इसमें कोई सन्देह नहीं क्योंकि रामायण पर पाणिनि के व्याकरण का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता जबकि परवर्ती काव्य पाणिनि के व्याकरण से प्रभावित हुए बिना न रह सका । उदाहरणार्थ हम रामायण के मूल श्लोक—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् अगमः शाश्वती समाः"

को ले सकते हैं । इस श्लोक में 'न माङ्योगे' सूत्र के अनुसार 'अगमः' न होकर 'गमः' होना चाहिए । पाणिनि का काल ६ठी शताब्दी के लगभग माना जाता है । इसी प्रकार से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जहाँ बाल्मीकि ने पाणिनि के नियमों का उल्लंघन किया है ।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि रामायण की रचना बुद्ध-जन्म से पूर्व हुई अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्याय संगत है।

प्रक्षिप्त अंश—लोकप्रिय ग्रंथ होने के कारण रामायण में निरन्तर क्षेपक जुड़ते रहे हैं। उसके प्रायः सभी आलोचकों की धारणा है कि बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मूल ग्रन्थ में नहीं थे, उन्हें बाद में जोड़ा गया है। प्रो० याकोबी के मतानुसार रामायण के मूलपाठ में पांच ही काण्ड थे—अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक। युद्ध काण्ड के अन्त में दी गई फलश्रुति से ही रामायण की इतिश्री हुई जान पड़ती है।

बालकाण्ड के क्षेपक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसमें अनेक ऐसी कथाएँ आई हैं जिनका राम-चरित्र से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। इतना ही नहीं इसमें अनेक ऐसी उक्तियों का भी समावेश है जो शेष पांच काण्डों से तनिक भी मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ बाल-काण्ड में लक्ष्मण और उर्मिला का विवाह वर्णित है, किन्तु अरण्यकाण्ड में शूर्पणखा-प्रसंग में लक्ष्मण को अकृतदारः अर्थात् अविवाहित बतलाया गया है।

बालकाण्ड के समान ही उत्तरकाण्ड भी क्षेपक ही ज्ञात होता है क्योंकि उस काण्ड की भी आधी से अधिक सामग्री रामचरित से सम्बन्ध नहीं रखती। इसकी मुख्य कथा तो सीता-बनवास तथा लवकुश को राज्य देकर राम का स्वर्गारोहण है; किन्तु इसके साथ ही ययाति, नहुष, इन्द्र, वृत्रासुर, वशिष्ठ, अगस्त्य की जन्म-कथा, पुरुरवा-उर्वशी आदि के कितने ही उपाख्यान और मिलते हैं। इतना ही नहीं जो प्रसंग रामकथा से सम्बन्ध भी रखते हैं उनमें भी एकता नहीं है। इस काण्ड में अन्य काण्डों को देखते हुए पुनरुक्ति-दोष तथा विरोधी बातें भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ, युद्धकाण्ड के अंतिम सर्ग में सुग्रीव विभीषण आदि के चले जाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है किन्तु उत्तरकाण्ड में पुनः उनके प्रस्थान का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से उत्तरकाण्ड के १७वें सर्ग में वेदवती की कथा आती है जिसके अनुसार सीता अपने पूर्व जन्म

में वेदवती ही थी किन्तु यदि यह प्रसंग प्रक्षिप्त न होता तो इसका उल्लेख रामायण के अन्य काण्डों में—सीता-जन्म प्रसंग के समय—अवश्य किया जाता। इतना ही नहीं महाभारत के रामोपाख्यान तथा संस्कृत के अनेक राम-काव्यों में उत्तर-काण्ड की कथा का वर्णन नहीं है।

केवल कथा-प्रसङ्गों की दृष्टि से ही नहीं अपितु शैली की दृष्टि से भी बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड क्षेपक ही प्रतीत होते हैं। इन दोनों ही काण्डों की शैली शेष काण्डों से मेल नहीं खाती। इसी प्रकार से इन दोनों की कथा में उतना प्रवाह नहीं मिलता जितना कि अन्य काण्डों में विद्यमान है। इनमें आए हुए उपाख्यानों से कथा-प्रवाह टूट सा गया है।

बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के क्षेपक होने का एक और सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इन दोनों काण्डों में राम को विष्णु का अवतार बतलाया गया है जबकि शेष काण्डों (कुछ प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर, क्योंकि युद्धकाण्ड के अंत में सीता के अग्नि-प्रवेश करने पर सब देवता घटना-स्थल पर आकर राम की विष्णु-रूप में स्तुति करते हैं) में वे केवल माननीय महापुरुष के रूप में ही चित्रित किए गए हैं।

लेकिन उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि रामायण में अन्यत्र कहीं प्रक्षिप्त अंशों का समावेश ही नहीं है। वस्तुतः अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक भी अनेक क्षेपकों की भरमार है, अन्तर है तो केवल इतना कि वहाँ पर केवल हृदयग्राही प्रसङ्गों का ही विस्तार किया गया है।

काव्य-कौशल—संस्कृत साहित्य का आदि-काव्य होने पर भी रामायण एक अनुपम रचना है। इसमें महाकाव्य के सभी प्रमुख लक्षणों—विषय की उदात्तता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास तथा भाषा का सौष्ठव—का समाहार है। रचना-शैली, विचारों की मनोहारिता तथा रमणीय दृश्यों के क्षेत्र में तो इसका प्रणेता इतना सफल है कि विद्वानों ने अलंकृत शैली के महाकाव्यों में इसे प्रथम स्थान दिया है।

रामायण का प्रणेता शैली, चरित्र-चित्रण तथा वर्णन की शक्ति में अपूर्व है। उसकी शैली सरल, उत्कृष्ट, अलंकृत और सुसंस्कृत है। अप्रचलित शब्दों

का उसमें अभाव है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सरल होने के कारण यह ग्रंथ काव्य-गौरव की दृष्टि से मूल्यहीन हो। वस्तुतः कवि ने सरल शब्दावली को लेकर एक ओर पाठक को असाधारण रूप में प्रभावित किया है, वहाँ दूसरी ओर रसयोजना, छन्दयोजना और अलंकारों के प्रयोग द्वारा अपने ग्रंथ को अति रमणीय बना दिया है। उसकी रचना में सभी रसों का समुचित परिपाक है। उपमा, रूपक और स्वाभावोक्ति का अत्युत्तम रीति से प्रयोग है। डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास के शब्दों में 'रामायण में होमर, वर्जिल और मिल्टन की अपेक्षा कहीं अधिक भाषा का गाम्भीर्य, छन्दों का औचित्य और रस का परिपाक है।'

रामायण-प्रणेता ने अपने पात्रों का चरित्रांक भी बहुत सफलतापूर्वक किया है। उसने अयोध्या नरेश दशरथ की तीनों रानियों के मनोभावों का अति सूक्ष्म अध्ययन किया है और अपने उसी अनुभव के आधार पर तीनों के स्वभाव में वैषम्य प्रदर्शित किया है। राम के बनवास के समय तथा दशरथ की मृत्यु के समय कौशल्या के विचार, स्वभाव और व्यवहार का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। राम और सीता के साथ लक्ष्मण को भेजते समय सुमित्रा का चरित्र-चित्रण तथा दशरथ से वरदान मांगते समय और उसके बाद तथा भरत के द्वारा राज्य को अस्वीकार करने पर, कैकेयी के दुःखित होने पर उसके विचार और व्यवहार का सुन्दर चित्रण किया गया है।

रामायण के अध्ययन से लेखक की अपूर्व वर्णन-शक्ति का परिचय भी प्राप्त होता है। वनप्रदेशों, आश्रमों, सेनाओं, युद्धों, राजप्रसादों, नगरों, मनुष्यों और उनके व्यवहारों का जो वर्णन रामायण में किया गया है वह वास्तविकता से परिपूर्ण है। ऋतुओं के वर्णन तो पाठक और श्रोताओं पर असाधारण प्रभाव डालते हैं। ऐसा गम्भीर और वास्तविकता से युक्त प्रभावकारी वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

रामायण में काव्य-कला के विभिन्न अवयवों का जहाँ सम्यक् प्रस्फुटन हुआ है वहाँ उसमें असंख्य सुभाषित भी संगृहीत हैं। सुभाषित मनुष्य को

भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग की शिक्षा देते हैं। अत्यधिक धन-लिप्सा मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देती है, यह कैकेयी और वाली के जीवन से स्पष्ट है। इसी प्रकार अत्यधिक कामुकता भी मनुष्य को नष्ट कर देती है, यह बात भी रामायण के प्रणेता ने बड़ी कुशलता से दिखाई है। वस्तुत: वालमीकि ने जीवन की पवित्रता पर बहुत बल दिया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि आचार ही मानव-जीवन का सर्वोत्तम गुण है, विवाह एक पवित्र बन्धन है, कर्त्तव्यनिष्ठा परम धर्म है और यही मनुष्य को गौरव से युक्त करता है।

रामायण का महत्त्व काव्यशास्त्रियों और जनसाधारण के लिए ही नहीं है, अपितु इतिहासज्ञों के लिए भी यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी के आधार पर हम प्राचीन भारत की सामाजिक अवस्था का अनुमान कर सकते हैं। इसी के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि उस समय अयोध्या और लंका दोनों ही स्थानों पर प्रजातन्त्र राज्य की व्यवस्था थी। राजा यद्यपि राज्य का अध्यक्ष होता था किन्तु राज्य की नीति का निर्धारण अधिकतर प्रजा की इच्छा के अनुसार हुआ करता था। व्यापार में अनुचित प्रतिस्पर्धा तथा सबलों द्वारा निर्बलों के उत्पीड़न को रोकने के लिए प्रयत्न किया जाता था। निर्माण-कार्य के लिए वृक्षों को यन्त्रों की सहायता से हटाया और काटा जाता था। अयोध्यावासी धार्मिक विधियों का अनुष्ठान भी करते थे। राक्षस उनकी इन विधियों में विघ्न डालते थे। नैतिक नियमों का पालन अयोध्या में कुछ कठोरता तथा किष्किन्धा में कुछ शिथिलता के साथ होता था। मृत व्यक्ति का शव तेल से परिपूर्ण हौज में रक्खा जाता था।

प्रश्न ८—महाभारत के कर्तृत्व, रचनाकाल और काव्य-कौशल पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

महर्षि व्यास द्वारा विरचित तथा अठारह पर्वों में विभक्त यह ग्रंथ (महाभारत) विश्व-साहित्य का सबसे बड़ा महाकाव्य है। यह ईलियड और ओडिसी के संयुक्त परिमाण से आठ गुना है। इसमें पाण्डवों और कौरवों

की अति-प्रचलित कथा है। इस कथा के अतिरिक्त इसमें देवताओं, राजाओं और ऋषियों की कथाएँ हैं, जिनका मुख्य कथा से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। इतना ही नहीं समय के दीर्घ प्रवाह में मूल कथा के चारों ओर अनेक अन्य आख्यानों का भी एक बहुत बड़ा जमघट-सा लग गया है।

विषय की बहुविधता के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न अंशों का शैली-सम्बन्धी तारतम्य, अनेक प्रकार के छन्दों का प्राचुर्य और परस्पर विरोधी सामञ्जस्य-विघातक सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि बातों से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत की मूल कथा काल-क्रम से अनेक मस्तिष्कों की कल्पनाओं से आप्लावित होकर इस विलक्षण मिश्रित स्वरूप को प्राप्त हुई है। महाभारत स्वयं इस बात का प्रमाण है कि उसका मूल स्वरूप 'जय' आधुनिक स्वरूप से बहुत छोटा था और उसको कम से कम दो बार अवश्य परिवर्द्धित किया गया है। आज इसी विश्वास के आधार पर विभिन्न विद्वान् महाभारत की निम्नलिखित अवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं।

प्रथम अवस्था—मूल महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ था, जिसका नाम 'जय' था— **'जयनामेतिहासोऽयम्, ततो जयमुदीरयेत्'** आदि। उसका आरम्भ 'उपरिचर'—इत्यादि त्रेसठवें अध्याय से होता है। प्रोफेसर मैकडानल का विचार है कि इस 'जय' नाम की रचना में ८८०० श्लोक थे। किंतु चिंतामणि वैद्य का विश्वास है कि उक्त संख्या कूट श्लोकों की है। सब पद्य मिलाकर संभवतः २०००० थे परम्परा के अनुसार पराशर के पुत्र द्वैपायन व्यास उसके रचयिता हैं। इस नाम का एक व्यक्ति प्राचीन महाभारत में विद्यमान था। यह बात कृष्ण यजुर्वेद के काण्क भाग में 'व्यास-पाराशर्य' के उल्लेख से सिद्ध होती है।

द्वितीय अवस्था—प्रथम परिवर्द्धन में कुछ वीर कथाएँ मिलाई गईं और सम्भवतः इसका नाम भारत रखा गया। इसमें २४,००० पद्य थे। परम्परा के अनुसार इसका सम्पादक वैशम्पायन था जो 'अश्वलायन गृह्यसूत्र' में भारताचार्य पद से उल्लिखित है।

तृतीय अवस्था—दूसरा परिवर्द्धन वीर-काव्य की सीमाओं को लांघ कर विस्मयापद विस्तार को प्राप्त हो गया। श्लोकों की संख्या २४००० से एक लाख के निकट पहुंच गई और महाभारत के नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई—
"महत्वाच्च भारवत्वाच महाभारतमुच्यते"

यह विशालकाय ग्रन्थ अनुपर्वों में विभक्त किया गया। इसका सम्पादन करने वाला सौति कहा जाता है।

महाभारत का रचना-काल—समस्त वैदिक साहित्य में महाभारत का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों और वेदों में कुरु और पांचाल नामी दो झगड़ने वाली जातियों का वर्णन है। इतना ही नहीं कुरुक्षेत्र, परीक्षित, जनमेजय, दुष्यन्त-पुत्र भरत तथा धृतराष्ट्र का भी उल्लेख किया गया है। 'शांखायन श्रौत सूत्र' में कुरुक्षेत्र के उस युद्ध का उल्लेख किया गया है जिसमें कौरवों का नाश हो गया था। पाणिनी ने युधिष्ठिर, भीम, विदुर तथा महाभारत शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक विवेचना की है। पतंजलि ने जिनका समय १४० ई० पू० है, महाभारत के युद्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है। फलतः यह स्पष्ट है कि महाभारत के कुछ आख्यान तथा उसका मूल ऐतिहासिक कथानक लगभग १००० ई० पू० अर्थात् उत्तर-वैदिक काल में प्रसिद्धि पा चुका था।

पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की चौथी शताब्दी तक निर्मित हो चुका था। इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

१. प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट, जिनका समय ७०० ई० है, ने महाभारत को व्यास-रचित एक महान् स्मृति-ग्रन्थ माना है तथा अपने ग्रन्थों में प्रायः सभी पर्वों से उद्धरण दिए है।

२. सुबन्धु और बाणभट्ट जिनका समय ६००-६४० ई० है, भी महाभारत के काव्य-रूप से परिचित हैं।

३. कम्बोडिया के ६०० ई० के एक शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि छठी शताब्दी में महाभारत का प्रचार भारत के बाहर दूसरे देशों में भी हो चुका था।

४. ४५०-५०० ई० के आसपास के जो दानपत्र मिलते हैं उनमें महाभारत के श्लोकों को शास्त्रीय प्रमाण मान कर उद्धृत किया गया है।

५. ४४२ ई० के एक गुप्तकालीन लेख में महाभारत का उल्लेख 'शतसाहस्त्र्याँ' इस प्रकार किया गया है।

किंतु श्रीयुत् चिंतामणि विनायक वैद्य कुछ प्रबल प्रमाणों के आधार पर महाभारत का रचना-काल और भी कई सौ वर्ष पूर्व का मानते हैं। उनका कथन है कि हाप्किंस जैसे विद्वानों को डायो क्रायसोस्टोम नामक उस यूनानी विद्वान् के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है जो सन् ५० ई० में दक्षिण भारत के पाण्ड्या देश में आया था। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का इलियड है। इसमें संदेह नहीं कि एक लाख श्लोकों के इलियड से उसका अभिप्राय इलियड के भारतीय अनुवाद से न होकर महाभारत से ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि महाभारत की रचना ५० ई० के पहले ही हो चुकी थी। इतना ही नहीं महाभारत में बुद्ध तथा बौद्ध धर्म सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों तथा यूनानियों का उल्लेख भी कई बार मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत की रचना बौद्ध धर्म के विस्तार तथा सिकन्दर के आक्रमण (३२० ई० पू०) के उपरान्त हुई होगी।

अन्ततः कहा जा सकता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ३२० ई० पू० से लेकर ५० ई० के बीच में निर्मित हो चुका था।

महाभारत पद्यों में आबद्ध है किन्तु कुछ सन्दर्भ गद्य में भी है। शैली की दृष्टि से ये गद्यांश महाभारत से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं।

महाभारत का अधिकांश भाग सम्वादों और वर्णनों में पूर्ण हुआ है। इसके संवाद विचारपूर्ण, प्रवाह-युक्त तथा शक्तिशाली हैं। इन संवादों में उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें वक्ता अपने भावों को निर्भीकता के साथ अभिव्यक्त

करता है। ये सम्वाद स्पष्ट और वास्तविकता से पूर्ण हैं। पाण्डवों और कौरवों की धनुर्विद्या की परीक्षा, वनवास के समय पाण्डवों के वन का जीवन, द्यूत-क्रीड़ा, शल्य के साथ कर्ण का युद्ध के लिए प्रस्थान आदि वर्णनों में बहुत ही रुचिकर सम्वाद हैं। इसके वर्णन विशेषतः युद्ध-वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़े हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी महाभारत एक सुन्दर रचना है। इसके सभी पात्र अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, विदुर, कर्ण, कुन्ती और द्रौपदी सभी के चित्रण में व्यास ने अपनी कुशल प्रतिभा का परिचय दिया है।

भाषा-शैली की दृष्टि से महाभारत की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि यह उस समय की बोलचाल की भाषा थी। इतना ही नहीं इसमें शब्दों के प्राचीन रूप भी उपलब्ध होते हैं। शैली की दृष्टि से इसमें एकरूपता का अभाव है क्योंकि इसके लेखक व्यास, वैशम्पायन, सौति तथा अन्य कई कवि हैं, जो कि विभिन्न समयों में हुए हैं। इसके शब्दों, लोकोक्तियों और वर्णनों पर वाल्मीकि का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

महाभारत अपने समय के सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय पैतृक परम्परा का आदर होता था। ब्राह्मणों को आदरणीय माना जाता था। राजकुमारों को धनुर्विद्या की शिक्षा दी जाती थी। विवाह के लिए स्वयम्वर की प्रथा का प्रचलन था जिसमें धनुर्विद्या में विशेषज्ञता के आधार पर ही योग्य पति का चुनाव होता था। राज-परिवारों में बहु-विवाह की प्रथा थी। कुछ स्त्रियाँ पति के साथ सती भी होती थीं। देश में राजतन्त्र प्रणाली का बोलबाला था। द्यूत यद्यपि दुर्गुण माना जाता था किन्तु फिर भी पर्याप्त प्रचलित था। विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में चोल, पाण्डच, चेर, आंध्र आदि शिक्षित जातियाँ रहती थीं। जन्म से जाति प्रथा को पूर्णतया नहीं माना जाता था। यथा व्यावहारिक दृष्टि से कर्ण सारथि का पुत्र था, किन्तु जातिगत विचार के आधार पर उसकी

धनुर्विद्या की विशेषज्ञता को न्यून नहीं किया गया। इसी प्रकार से दासी पुत्र विदुर उस समय सम्मानित राजनीतिज्ञ थे, धर्मव्याध और तुलाधर ब्राह्मण न होने पर भी धर्मशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य थे। केवल जातिप्रथा का अभाव-सा ही उस युग में नहीं था अपितु वैदिक यज्ञों का महत्व भी कम हो गया था। इतना ही नहीं महाभारत में मन्दिर और मूर्तियों का उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता है।

श्रेण्य काल के भारतीय साहित्य पर महाभारत का बहुत प्रभाव पड़ा है। मीमांसा-शास्त्र के व्याख्याताओं में प्रमुख कुमारिल भट्ट ने महाभारत का उल्लेख किया है और इसके पर्वों से श्लोक भी उद्धृत किए हैं। संस्कृत गद्य के प्रमुख लेखक बाणभट्ट तथा सुबन्धु ने भी अपने काव्य में इसका उपयोग किया है। बाण ने तो कादम्बरी में महाभारत के पारायण का भी उल्लेख किया है। कम्बोज (कम्बोडिया) के ६८० ई० के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि मन्दिरों को महाभारत की दो प्रतियाँ दी गई थीं और यह प्रबन्ध किया गया था कि वहाँ पर इसका दैनिक पाठ हो। इसका ९९६ ई० में जावा की भाषा में अनुवाद हुआ।

प्रश्न ९—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये—

(क) रामायण पर आधृत ग्रन्थ

(ख) महाभारत पर आधृत ग्रन्थ

रामायण पर आधृत ग्रन्थ—भारतीय ग्रन्थकार रामायण को आदि-काव्य और इसके प्रणेता वाल्मीकि को आदि-कवि कहते हैं। विश्वसाहित्य में भी यह जितना लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है, उतना संभवतः दूसरा नहीं। इतना ही नहीं अपनी रचना के दिन से लेकर आज तक यह ग्रन्थ भारतीय कवियों और नाटककारों के प्राणों में स्फूर्ति भरता आया है। महाभारत के तीसरे पर्व में भी राम की कथा आयी है। भास, कालिदास आदि अन्य अनेक कवियों और नाटककारों ने भी रामायण की कथा का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। संक्षेपतः रामायण पर आधृत मुख्य २ ग्रन्थों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

संख्या	ग्रन्थ	रचयिता	काव्य-रूप
१.	प्रतिमा नाटक	भास	नाटक
२.	अभिषेक नाटक	,,	,,
३.	यज्ञफल	,,	,,
४.	रघुवंश	कालिदास	काव्य
५.	कुन्दमाला	दिङ्नाग	नाटक
६.	सेतुबंध	प्रवरसेन	काव्य
७.	जानकी हरण	कुमारदास	,,
८.	रावण वध	भट्टि	,,
९.	आश्चर्य-चूड़ामणि	शक्तिभद्र	,,
१०.	महावीर चरित्	भवभूति	नाटक
११.	उत्तररामचरित्	,,	,,
१२.	अनर्घराघव	मुरारि	,,
१३.	रामचरित्	अभिनन्द	काव्य
१४.	बालरामायण	राजशेखर	नाटक
१५.	महानाटक	हनुमान	,,
१६.	रामायण चंपू	भोज	चम्पू
१७.	रामायण मंजरी	क्षेमेंद्र	काव्य
१८.	रामपालचरित्	संध्याकरनन्दी	,,
१९.	प्रसन्नराघव	जयदेव	नाटक
२०.	उन्मत्त राघव	भास्कर	,,
२१.	,,	विरूपाक्ष	,,
२२.	रघुनाथचरित्	वामनभट्टबाण	काव्य
२३.	आनन्दराघव	राजचूणामणि दीक्षित	नाटक
२४.	उत्तरचम्पू	वेंकटाध्वरी	चम्पू
२५.	अद्भुत दर्पण	महादेव	नाटक

२६.	जानकी परिणय	चक्रकवि	काव्य
२७.	,,	रामभद्र दीक्षित	नाटक

महाभारत पर आधृत ग्रन्थ—रामायण के ही समान महाभारत भी श्रेण्यकाल के कवियों के लिए लोकप्रिय रहा है। इन्होंने महाभारत की मुख्य कथा तथा उसकी अन्तर्गत अन्य कथाओं का उपयोग किया है। संक्षेपतः महाभारत पर आधृत मुख्य-मुख्य ग्रन्थों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

संख्या	ग्रन्थ	रचयिता	काव्य-रूप
१.	पंचरात्र	भास	नाटक
२.	दूतवाक्य	,,	,,
३.	मध्यमव्यायोग	,,	,,
४.	दूतघटोत्कच	,,	,,
५.	कर्णभार	,,	,,
६.	ऊरुभंग	,,	,,
७.	अभिज्ञान शाकुन्तल	कालिदास	नाटक
८.	किरातार्जुनीय	भारवि	काव्य
९.	वेणीसंहार	भट्टनारायण	नाटक
१०.	शिशुपालवध	माघ	काव्य
११.	सुभद्रा-धनंजय	कुलशेखरवर्मन	नाटक
१२.	कीचक-वध	नीतिवर्मन	काव्य
१३.	बालभारत	राजशेखर	काव्य
१४.	नैषधानन्द	क्षेमीश्वर	,,
१५.	नलचंपू	त्रिविक्रमभट्ट	चम्पू
१६.	भारत-मजरी	क्षेमेंद्र	काव्य
१७.	धनंजयव्यायोग	कांचनपण्डित	नाटक
१८.	किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज	,,

१९.	नैषधीय चरित्	श्रीहर्ष	काव्य
२०.	नल-विलास	रामचन्द्र	नाटक
२१.	निर्भय-भीम	,,	,,
२२.	बालभारत	अमरचन्द्र	काव्य
२३.	पाण्डवचरित्	देवप्रभसूरि	
२४.	सहृदयानन्द	कृष्णानन्द	
२५.	बालभारत	अगस्त्य	

प्रश्न १०—रामायण और महाभारत की तुलना कीजिए।

रामायण और महाभारत दोनों इसी देश की रचनाएं हैं। दोनों ग्रंथों ने भारतीयों के जातीय जीवन, जनता के नैतिक तथा धार्मिक विचारों तथा साहित्य के विभिन्न अङ्गों को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। फलतः इन दोनों ग्रंथों का आज तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाने लगा है।

रामायण और महाभारत का तुलनात्मक अध्ययन करते समय जो बात एकदम हमारा ध्यान अपनी ओर खींच लेती है वह है इन दोनों ग्रंथों की पारस्परिक समानताएँ। इन समानताओं में सबसे पहली तो कथा की है। सीता और द्रौपदी दोनों नायिकाएँ आश्चर्यजनक रीति से पैदा हुई हैं। दोनों का विवाह स्वयंवर-प्रथा के द्वारा तो अवश्य हुआ था किन्तु वर का चुनाव दोनों में से किसी की भी इच्छा से नहीं हुआ था, इस दिशा में तो शारीरिक शक्ति ही सर्वोच्च मानी गई थी। इतना ही नहीं दोनों ही ग्रंथों में नायिकाओं सीता और द्रौपदी का अपहरण क्रमशः रावण और जयद्रथ द्वारा होता है। इसी प्रकार से दोनों महाकाव्यों की पौराणिक कथाओं में भी बहुत समानता है। दोनों में ऋग्वेद-कालीन प्रकृति-पूजा का लोप ही दृष्टिगत होता है। वरुण, अश्विन और आदित्य जैसे देवताओं का दोनों में ही उल्लेख नहीं है। उषा जैसी देवियों का वर्णन भी नहीं किया गया है तथा इन सबका स्थान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, कुबेर और दुर्गा ने ग्रहण कर लिया है। अवतारवाद

का प्राधान्य हो गया है तथा इन्द्र सदृश देवता स्त्री-पुत्र वाले कुटुम्बी बन जाते हैं, स्वर्ग में वास करते हैं और मनुष्यों के समान ही आचरण करते हैं।

कथा के अतिरिक्त दोनों के वर्णनों में भी समानता है। दोनों का आरंभ राज-सभा से होता है और उसके बाद प्रायः समानकाल के लिए वनवास का वर्णन आता है। वनवास के समय दोनों की ही एक ग्रामीण मुखिया से मित्रता होती है। तत्पश्चात् दोनों में ही युद्ध के दृश्य आते हैं।

वर्णन के अतिरिक्त शैली की दृष्टि से भी दोनों ग्रंथों में समानताएँ मिलती हैं। दोनों में एक ही जैसी उपमाएँ तथा युद्ध के एक ही जैसे वर्णन पाए जाते हैं। इतना ही नहीं कितने ही श्लोकार्ध तथा लोकोक्तियाँ समान हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् होपकिन्स ने तो लगभग तीन सौ स्थल ऐसे ढूँढ़ निकाले हैं जिनमें एक से वाक्य और एक से वाक्यरूप हैं।

उद्देश्य की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है। दोनों का ही उद्देश्य है—अधर्म कुछ समय के लिए ही सफल हो सकता है किन्तु अन्तिम विजय धर्म की होगी।

इन सभी समानताओं के अतिरिक्त इन दोनों ग्रंथों में एक और समानता है और वह है कालसंबंधी। अभी तक दोनों ही रचनाओं के रचना-काल के संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हो सके हैं। इसका कारण यह है कि दोनों ग्रंथों में से किसी का भी अविसन्दिग्ध भाग नहीं मिलता। दोनों ही ग्रन्थों के नाना संस्करण मिलते हैं।

किन्तु इतनी समानताओं के होते हुए भी दोनों में पर्याप्त वैषम्य है। सर्व-प्रथम तो परिमाण की दृष्टि से दोनों में अन्तर पाया जाता है। वर्तमान महाभारत का परिमाण जहाँ ईलियड और ओडिसी के संयुक्त परिमाण का आठ गुना है वहाँ रामायण का परिमाण महाभारत के परिमाण का चौथाई है। इसी प्रकार से जहाँ रामायण के काण्ड तथा कथावस्तु सुसंबद्ध हैं वहाँ महाभारत में ऐसा नहीं है।

रामायण और महाभारत में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि प्रथम (रामा-यण) जहाँ एक व्यक्ति की कृति है वहाँ द्वितीय (महाभारत) में अनेक कर्त्ताओं

की छाप है। फलतः जहाँ रामायण में एक ओर भाव, भाषा और रचना शैली की एकरूपता समग्र ग्रंथ में दीख पडती है वहाँ दूसरी ओर महाभारत के भिन्न-भिन्न भागों में भाषा और रचना-शैली का भेद स्पष्ट लक्षित होता है। रामायण में एकमात्र लौकिक छंद का ही प्रयोग किया गया है किंतु महाभारत में अनेक स्थलों पर वैदिक छंदों का प्रयोग मिलता है।

कथा की दृष्टि से जहां दोनों में साम्य है वहाँ कहीं-कहीं वषम्य भी आ गया है रामायण में महाभारत की किसी भी कथा का उल्लेख नहीं है, परन्तु महाभारत में रामायण की कथा और वाल्मीकि का कई स्थानों पर उल्लेख है। इसी प्रकार से रामायण में स्वयंवर के अवसर पर धनुर्विद्या संबंधी परीक्षण सरल है किन्तु महाभारत में उसमें विशेष सुधार किया गया है और उसमें नवीनता लाई गई है। रामायण में वानर और राक्षस अपनी माया-शक्ति का प्रयोग करते हुए युद्ध करते हैं किन्तु महाभारत में घटोत्कच को छोड़कर अन्य सभी मनुष्य ही भाग लेते हैं। महाभारत से प्राप्त होने वाले युद्ध के विभिन्न प्रकार चक्रव्यूह, क्रौंच व्यूह, मकर व्यूह, श्वेन व्यूह, पद्म व्यूह आदि सेना-संचालन के ढंग रामायण में प्राप्त नहीं होते।

रामायण और महाभारत नामी रचनाओं में एक अन्य अन्तर यह है कि जहाँ रामायण का समाज आदर्शवादी है वहाँ महाभारत में ऐसी बात नहीं है। रामायण में जहाँ रामचन्द्र जी के पवन-पावन आदर्श एवं आचरण दृष्टिगत होते हैं वहाँ महाभारत के युधिष्ठिर तो द्यूत आदि कर्मों में प्रवृत्त हैं। इसी प्रकार से रामायण के राम और भरत जहाँ राज्य प्राप्ति के प्रति पूर्णतः उदासीन हैं वहां महाभारत के दुर्योधन का तो सिद्धान्त ही यही है—

'सूच्यग्रंनैवदास्यामि विना युद्धेन केशव' ।

इतना ही नहीं रामायण की प्रजा जहाँ अन्याय का विरोध करने में तनिक भी नहीं हिचकती और कैकेयी द्वारा सीता को तपस्विनी के वस्त्र दिये जाने पर **'धिक् त्वा दशरथम्'** कहकर चिल्ला उठती है वहाँ महाभारत में धृतराष्ट्र की राज-सभा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर भीष्म और द्रोण जैसे

वयोवृद्ध भी कुछ नहीं बोलते। एक ओर रामचन्द्र जी के वनगमन के अवसर पर अयोध्यावासी उनके साथ चलने के लिये उद्यत हो जाते हैं, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर के दो बार हस्तिनापुर से निकाले जाने पर नगर-निवासी कौरवों के भय से शोक तक प्रगट नहीं करते। आदर्शवाद की यही प्रबलता हमें युद्ध-स्थलों में भी देखने को मिलती है। रामायण के राम रावण के घायल हो जाने पर जहाँ यह कहते हैं, 'घायल का वध करना धर्म विरुद्ध है' वहाँ महाभारत में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोणके वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न शिखण्डी और द्रौपदी के पाँच पुत्रों के वध के दर्शन होते हैं।

नैतिक भावना की दृष्टि से रामायण और महाभारत में पर्याप्त अन्तर है। रामायण में जहाँ सतीसाध्वी सीता का पतिव्रत और राम का पत्नीव्रत देखने को मिलता है वहाँ महाभारत में सत्यवती और कुन्ती की कुमारावस्था में ही सन्तानोत्पत्ति, द्रौपदी के पाँच पति और पाण्डवों के बहु-विवाह के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार से रामायण में जहाँ चरित्र की शुद्धता के लिए अग्नि-परीक्षा होती है वहाँ महाभारत में द्रौपदी के पुनर्ग्रहण (काम्यक वन में जयद्रथ द्वारा हरण कर लिये जाने के बाद) में कोई विरोध खड़ा नहीं होता।

इन सभी विषमताओं के अतिरिक्त भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से भी इन दोनों रचनाओं में पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि रामायण में भारत की दक्षिणी सीमा विन्ध्या और दण्डकवन तक थी, पूर्वी सीमा विदेह राज्य तक थी तथा पश्चिमी सौराष्ट्र तक थी किन्तु महाभारत के समय तक आर्यावर्त्त का विशेष विस्तार हो चुका था। इसकी पूर्वी सीमा गंगासागर के संगम तक हो गई थी, दक्षिणी सीमा चोल, मालाबार प्रान्त तक थी। इतना ही नहीं लंका तक के राजा भी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर आए थे। अतः लंका तक भारत का विस्तार हो गया था।

प्रश्न ११—पुराणों के परम्परागत लक्षण क्या हैं? पुराणों की संख्या का उल्लेख करते हुए उनके प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं को है। इतना ही नहीं वैदिक साहित्य के उपरान्त हिन्दू धर्म को जिन ग्रन्थों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है उनमें भी पुराणों का ही प्रथम स्थान है। प्राचीनता की दृष्टि से भी तो पुराणों के आख्यान वैदिक कालीन कथाओं को लिये हुए हैं।

पुराण शब्द अथर्ववेद और ब्राह्मणों में सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में इस शब्द का प्रयोग प्राचीन आख्यानों के लिए किया गया है यथा—'पुराणमाख्यानम्'। भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग आख्यान के साथ ही इतिहास के लिए भी हुआ है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों को इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया है। वे इन्हें पुरातन कथा (Mythology) ही मानते हैं और इन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। वस्तुतः इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है जो भूतकाल में कही गई हैं परन्तु पुराण का विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है।

भारतीय परम्परा के अनुसार पुराणों में पाँच बातें होनी चाहिएँ, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि का संहार, देवों की वंशावली, मन्वन्तरों का वर्णन तथा सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन। विष्णु आदि पुराणों में भी यही लक्षण दिया गया है, यथा—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं चयत्॥
(विष्णु पुराण ३–६–२४)

यद्यपि यही लक्षण साधारणतया सभी पुराणों के लिए दिया गया है किन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। विष्णु पुराणों को छोड़ कर अन्य पुराणों में पृथ्वी, प्रार्थना, उपवास, पर्व तथा तीर्थ-यात्राओं का वर्णन भी मिलता है। कुछ पुराणों में ज्योतिष, शरीर-विज्ञान, औषधियाँ, व्याकरण और शास्त्रों के प्रयोग आदि नियमों का भी वर्णन है।

वयोवृद्ध भी कुछ नहीं बोलते। एक ओर रामचन्द्र जी के वनगमन के अवसर पर अयोध्यावासी उनके साथ चलने के लिये उद्यत हो जाते हैं, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर के दो बार हस्तिनापुर से निकाले जाने पर नगर-निवासी कौरवों के भय से शोक तक प्रगट नहीं करते। आदर्शवाद की यही प्रबलता हमें युद्ध-स्थलों में भी देखने को मिलती है। रामायण के राम रावण के घायल हो जाने पर जहाँ यह कहते हैं, 'घायल का वध करना धर्म विरुद्ध है' वहाँ महाभारत में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोणके वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न शिखण्डी और द्रौपदी के पाँच पुत्रों के वध के दर्शन होते हैं।

नैतिक भावना की दृष्टि से रामायण और महाभारत में पर्याप्त अन्तर है। रामायण में जहाँ सतीसाध्वी सीता का पतिव्रत और राम का पत्नीव्रत देखने को मिलता है वहाँ महाभारत में सत्यवती और कुन्ती की कुमारावस्था में ही सन्तानोत्पत्ति, द्रौपदी के पाँच पति और पाण्डवों के बहु-विवाह के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार से रामायण में जहाँ चरित्र की शुद्धता के लिए अग्नि-परीक्षा होती है वहाँ महाभारत में द्रौपदी के पुनर्ग्रहण (काम्यक वन में जयद्रथ द्वारा हरण कर लिये जाने के बाद) में कोई विरोध खड़ा नहीं होता।

इन सभी विषमताओं के अतिरिक्त भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से भी इन दोनों रचनाओं में पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि रामायण में भारत की दक्षिणी सीमा विन्ध्या और दण्डकवन तक थी, पूर्वी सीमा विदेह राज्य तक थी तथा पश्चिमी सौराष्ट्र तक थी किन्तु महाभारत के समय तक आर्यावर्त्त का विशेष विस्तार हो चुका था। इसकी पूर्वी सीमा गंगासागर के संगम तक हो गई थी, दक्षिणी सीमा चोल, मालाबार प्रान्त तक थी। इतना ही नहीं लंका तक के राजा भी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर आए थे। अतः लंका तक भारत का विस्तार हो गया था।

प्रश्न ११—पुराणों के परम्परागत लक्षण क्या हैं? पुराणों की संख्या का उल्लेख करते हुए उनके प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं को है। इतना ही नहीं वैदिक साहित्य के उपरान्त हिन्दू धर्म को जिन ग्रन्थों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है उनमें भी पुराणों का ही प्रथम स्थान है। प्राचीनता की दृष्टि से भी तो पुराणों के आख्यान वैदिक कालीन कथाओं को लिये हुए हैं।

पुराण शब्द अथर्ववेद और ब्राह्मणों में सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में इस शब्द का प्रयोग प्राचीन आख्यानों के लिए किया गया है यथा—'पुराणमाख्यानम्'। भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग आख्यान के साथ ही इतिहास के लिए भी हुआ है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों को इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया है। वे इन्हें पुरातन कथा (Mythology) ही मानते हैं और इन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। वस्तुतः इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है जो भूतकाल में कही गई हैं परन्तु पुराण का विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है।

भारतीय परम्परा के अनुसार पुराणों में पाँच बातें होनी चाहिएँ, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि का संहार, देवों की वंशावली, मन्वन्तरों का वर्णन तथा सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन। विष्णु आदि पुराणों में भी यही लक्षण दिया गया है, यथा—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं चयत्॥

(विष्णु पुराण ३–६–२४)

यद्यपि यही लक्षण साधारणतया सभी पुराणों के लिए दिया गया है किन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। विष्णु पुराणों को छोड़ कर अन्य पुराणों में पृथ्वी, प्रार्थना, उपवास, पर्व तथा तीर्थ-यात्राओं का वर्णन भी मिलता है। कुछ पुराणों में ज्योतिष, शरीर-विज्ञान, औषधियाँ, व्याकरण और शास्त्रों के प्रयोग आदि नियमों का भी वर्णन है।

पुराणों का समय निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। इन पुराणों के कुछ स्थल बहुत प्राचीन हैं और कुछ बहुत नवीन हैं। कुछ पुराणों में राजवंशावलियाँ दी गई हैं, उनमें हर्ष और ६०० ई० बाद वाले राजाओं का उल्लेख नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि ५वीं शताब्दी से पूर्व ये पुराण निश्चितरूप धारण कर चुके थे।

पुराणों की संख्या के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि वायु पुराण में एक स्थान पर लिखा है कि पहले केवल ५ पुराण थे। किन्तु आज १८ पुराणों की उपलब्धि होती है और प्रायः सभी विद्वानों नें इसी संख्या को स्वीकार भी कर लिया है। इन पुराणों के नाम इस प्रकार हैं—

१. ब्रह्म, २. विष्णु, ३. अग्नि, ४. वायु, ५. मत्स्य, ६. स्कन्द, ७. कूर्म, ८. लिंग, ९. भविष्य, १०. पद्म, ११. भागवत् १२. ब्रह्माण्ड, १३. गरुड़, १४. मार्कण्डेय, १५. ब्रह्मवैवर्त्त, १६. वामन, १७. वराह, १८. शिव।

इन अठारह पुराणों में कुल मिलाकर चार लाख से भी अधिक श्लोक हैं, किसी में सात हजार हैं तो दूसरे में इक्यासी हजार। विष्णु पुराण में जो सर्वाधिक सुरक्षित समझा जाता है, सात हजार से भी कम श्लोक हैं।

प्रतिपाद्य की दृष्टि से विष्णु की भक्ति से सम्बन्ध विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म और वराह ये ६ पुराण सात्विक पुराण माने गये हैं। ब्रह्मा की भक्ति सेसम्बद्ध ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्रह्म ये छः राजस पुराण माने गए है। शिव की भक्ति से सम्बद्ध मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कंद और अग्नि ये छः तामस पुराण माने गए हैं।

पुराणों की कोई एक शैली नहीं है। लेकिन सभी पुराण दो या अधिक व्यक्तियों के बीच में वार्तालाप के रूप में हैं और इस प्रकार से महाभारत के समान हैं। पुराणों में श्लोकों और प्रकरणों के लिए 'श्रुति', 'ऋक्', 'सूक्त' जैसे शब्दों का व्यवहार किया गया है।

पुराणों की मुख्य देन आस्तिकवाद का प्रबल समर्थन है। उनमें बहुत से देवताओं का वर्णन है। किन्तु वे किसी एक देवता के महत्व की ही स्थापना करते हैं। वे किसी एक देवता की उपासना करने के लिए तो कहते हैं किन्तु किसी अन्य देवता की उपासना का निषेध नहीं करते। वे घोषित करते हैं कि सभी देवता समान हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी पुराण बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनसे जो सामग्री उपलब्ध होती है उसके आधार पर प्राचीन भारत का इतिहास तैयार किया जा सकता है। उनमें शिशुनाग, नंदमौर्य, शुंग, आन्ध्र, गुप्त आदि प्रमुख राज-वंशों का उल्लेख प्राप्त होता है।

पुराण स्वरूपतः नीति ग्रन्थ हैं और लक्ष्य की दृष्टि से साम्प्रदायिक हैं। इनमें बहुत से अत्युपयोगी नीति और कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश हैं। ये कर्त्तव्य शिक्षा के रूप में दिए गए हैं।

१८ पुराणों के अतिरिक्त १८ उप-पुराण भी माने गए हैं जिनमें से अधिकांश के नाम वही हैं जो मुख्य पुराणों के हैं। इन सबके लेखक व्यास माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ हैं जो पुराणों के रूप में हैं किन्तु जिनकी गणना पुराणों में नहीं होती है। उनमें से विष्णु-धर्मोत्तर, काश्मीरी वैष्णव धर्म का वर्णन करता है, नीलमत पुराण काश्मीरी नागों के धार्मिक नेता राजा नील के सैद्धान्तिक उपदेशों का वर्णन करता है और वृहद्धर्म पुराण का मत है कि कपिल, वाल्मीकि, व्यास और बुद्ध विष्णु के अवतार हैं।

प्रश्न १२—'पुराणों में राजनीति, धार्मिक अवस्था, साधारण रीति-रिवाज, छूतछात, सत्य, स्त्री, भक्ति, सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयों से सम्बद्ध सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है, इस कथन की समीक्षा कीजिए।

पुराण राजनीति, धार्मिक अवस्था, साधारण रीति-रिवाज, भक्ति, सत्य, सृष्टि की उत्पत्ति आदि पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं और आगामी पंक्तियों में हम इन्हीं विभिन्न दृष्टियों से पुराणों का अध्ययन करेंगे।

राजनीति—पुराणों से राजनीति की दशा का ज्ञान होता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि पुराण राजनीति का भंडार है किंतु उनमें राजनीति स्वतन्त्र रीति से वर्णित नहीं हुई है। उसका आधार अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्म-सूत्र और स्मृतियाँ हैं। अग्नि पुराण में इस बात का स्पष्ट रीति से उल्लेख किया गया है कि राजा के निज-प्रजा के लिए क्या कर्त्तव्य हैं। राजा का यह मुख्य धर्म और कर्त्तव्य है कि वह समस्त जीवन प्रजा की उन्नति के लिए अर्पित कर दे। उसके जीवन का यही लक्ष्य होना चाहिए कि उसकी प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो, प्रजा से प्रतिदिन भेंट करने का अवकाश निकालना आवश्यक है। कुमारों की शिक्षा पर विशेष रीति से ध्यान देना चाहिए। पुराणों के अध्ययन से यह स्पष्ट रीति से विदित होता है कि राजनीतिक अवस्था उसी जमींदारी संघ शासन पद्धति की है जो अन्य साहित्य, शिलालेख तथा ताम्रपत्रों में झलकती है।

धार्मिक अवस्था—वृहन्नारदीय पुराण के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि हर एक युग में धर्म की मर्यादा तथा व्यवस्था भिन्न-भिन्न थी। कलियुग में समुद्र यात्रा, वानप्रस्थ, अन्तर्वर्ण विवाह का निषेध है। पुराणों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि उस समय परमात्मा के तीन रूप माने जाते थे और वह ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश थे। इसके पश्चात् यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति उपस्थित न हुई कि विष्णु के १० या २४ अवतार हुए। इस समय पूजा के भाव मानव-हृदय में प्रबलता से स्थान पा रहे थे। अग्नि पुराण के अध्ययन से यह विदित होता है कि विष्णु और अन्य देवताओं की मूर्ति बनाने तथा मन्दिरों के निर्माण के सम्बन्ध में क्या नियम थे। समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। ब्रह्म-भोज और दान की महिमा के भाव मानव हृदय में विशेष स्थान पाने लगे थे। जात-पांत के बन्धन और भी कठोर हो रहे थे। समाज इस ओर अग्रसर हो रहा था कि विवाह आदि के नियमों का कठोरता के साथ पालन किया जाए और रोटी-बेटी के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिथिलता न दिखलाई जाए।

बौद्ध धर्म का प्रभाव शनैः शनैः कम हो रहा था और हिन्दू धर्म उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो रहा था। ब्राह्मणों ने समय के अनुसार अपनी स्थिति के परिवर्तन करने में तनिक भी आनाकानी न की। उन्होंने अपने सिद्धान्तों में भी समयानुसार परिवर्तन कर दिया। इस समय जिस ब्राह्मण धर्म का प्रचार आरम्भ हुआ, वह स्वतः अपना प्रभाव लिये हुए था किन्तु उसमें अन्य धर्मों के सिद्धान्त भी मिश्रित थे। उदाहरण के लिए प्राचीन वैदिक धर्म और दर्शनों के कुछ सिद्धान्त उसमें सम्मिलित कर लिये गये थे। कोई एक सिद्धान्त निज की सत्ता न रखता था। यह भी संघ शासन की भाँति एक प्रकार का शासन था। प्रत्येक प्राणी जिसने इस संसार में जन्म लिया है उसका स्वतन्त्र अधिकार है कि वह ईश्वर, आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि अन्य बातों में विश्वास रख सकता है।

किसी भी देवता की पूजा करने के लिये कोई रुकावट न थी। जिसकी इच्छा हो वही यज्ञ, धर्म, कर्म, योग, ज्ञान, पूजा और तीर्थ करने में स्वतन्त्र था। इस समय सहनशीलता पराकाष्ठा को पहुँच गई। कोई भी ऐसा क्षेत्र न था जिसे ब्राह्मण धर्म स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति हो अथवा उसका किसी से विरोध हो और जिसका प्रतिकार करने के पक्ष में हो। इस समय तो उसका तत्व सहनशीलता ही था।

साधारण रिवाज—इस संसार में जीवित रहने के वही मनुष्य अधिकारी हैं जो निज कर्त्तव्य से च्युत न हुए हों। पतित मनुष्य को इस संसार में जीवित रहने का कोई भी अधिकार नहीं। उसकी दशा तो मृतक पुरुष से भी अधिक शोचनीय है। उसका श्राद्ध कर देना ही श्रेयस्कर है। उसे निज सम्पत्ति के प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं। उसकी सम्पत्ति को दूसरे मनुष्यों में बाँट देना ही उचित है।

छूतछात—छूतछात के विषय में कर्म बन्धन थे और उनका उल्लंघन करने से कुछ व्रत धारण करने पड़ते थे। यदि ब्राह्मण अन्य जातियों के छुए हुए भोजन को ग्रहण करले तो उसे भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त व्रतों का पालन करना

पड़ता था। प्रत्येक पुरुष के लिये मूर्ति का स्पर्श करना वर्जित था। यदि शूद्र या नीच जाति का कोई पुरुष मूर्ति का स्पर्श कर ले तो ऐसी दशा में भक्त का यह कर्त्तव्य था कि उस देवता के मंत्र का सौ बार जप करे।

सत्य की महिमा—मार्कण्डेय पुराण में सत्य की महिमा का विशद रूप से वर्णन किया है और इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजा हरिश्चन्द्र ने निज राज-पाट तथा सर्वोच्च दान करके भी सत्य की रक्षा की। नाना प्रकार की आपत्तियाँ सत्य के कारण ही सहन कीं। सत्य की महिमा से ही उसने विश्वामित्र ऋषि पर भी विजय प्राप्त की। देवताओं ने उसकी विजय पर दुन्दुभि बजाई और पुष्प-वर्षा की।

स्त्री—बृहन्नारदीय पुराण में यह स्पष्ट रीति से वर्णन आया है कि अपवित्र स्त्री त्याज्य है। केवल पवित्र स्त्री का ही सहयोग उचित है। इसके अतिरिक्त जो स्त्री अपने पति तथा पुत्रों के साथ निर्दयता का व्यवहार करे उसे भी अवश्य ही त्याग देना चाहिये। ऐसी स्त्री को त्यागने में किसी प्रकार का दोष नहीं होता।

भक्ति—मनुष्य जन्म का ध्येय ही मुक्ति प्राप्त करना है किन्तु मुक्ति विना भक्ति के सुलभ नहीं। भगवत् भजन ही कल्याण और मुक्ति का एक मात्र साधन है और कृष्ण भगवान के चरण-कमलों में मस्तक नत करते ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। यज्ञ करने से कृष्ण भगवान इतने प्रसन्न नहीं होते जितने कि प्रेम से। प्रेम ही उनको प्रसन्न करने तथा उनसे वरदान प्राप्त करने का एक सहज उपाय है। वह प्रेम के नाते शीघ्र ही वशीभूत हो जाते हैं।

सृष्टि—वायुपुराण में सृष्टि का वर्णन अति मनोहर तथा रोचक शब्दों में किया गया है। यह मन को मुग्ध करने की शक्ति रखता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था का लेश मात्र भी भेद न था। आश्रमों का पचड़ा न था। उच्च तथा निम्न श्रेणियों में विभाजन समानता ही का व्यवहार था। भेद-भाव का चिह्न भी न था। अवस्था, सौन्दर्य और अन्य

गुणों में कोई प्राणी किसी से स्पर्धा न करता था । कल्प-वृक्ष मनोवांछित फल देने में समर्थ थे, इच्छाएँ पूर्ण होने के साधन थे। मनमाने और इच्छित पदार्थ बिना प्रयास तथा प्रयत्न के ही प्राप्त हो जाते थे। किन्तु समय के चक्र ने पलटा खाया। भावनाओं में अन्तर आ गया, उस समय कल्प-वृक्षों का लोप हो गया। वस्त्र, गृह, गाँव, नगर इत्यादि की आवश्यकता हुई और उनका निर्माण कर दिया गया। वर्ण-व्यवस्था का शिलान्यास हुआ। सत्यव्रतधार्य पुरुष ब्राह्मणों की श्रेणी में विभाजित किये गये। जिन पुरुषों ने कृषि व्यवसाय स्वीकार किया उन्हें वैश्यों की श्रेणी में रक्खा गया, जिन पुरुषों में तेज का अभाव था और वृत्ति ही जिनकी आजीविका थी उन्हें शूद्रों की श्रेणी में रखा गया। ब्राह्मणों ने इनके भिन्न-भिन्न धर्म-नियम बनाये और फिर आश्रमों की स्थापना हुई। गृहस्थ आश्रम ही सब आश्रमों में मुख्य माना गया।

नारायण—बराह पुराण के अध्ययन से विष्णु की प्रधानता के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। यदि कोई प्राणी कार्यों में लिप्त होने से मुक्त होना चाहे तो उसका केवल एक ही उपाय है कि वह अपने सब कर्मों को नारायण के अर्पण कर दे।

कलियुग—अन्य पुराणों में कलियुग के विषय में वर्णन किया गया है। कर्मपुराण में कलियुग का बहुत ही भयानक चित्र है। उसमें बतलाया गया है कि इस युग में सब कर्मों का नाश हो जाता है। प्रत्येक बात उल्टी होती है।



महाकाव्य

प्रश्न १३—संस्कृत महाकाव्यों के स्वरूप पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

महाकाव्य जीवन की सर्वाङ्गीणता का दर्शन कराता है। वह अपनी विशद और विस्तृत परिधि में समस्त राष्ट्र और जाति को आत्मसात् किए रहता है। महाकाव्य की इसी महत्ता को देख कर ही उसके स्वरूप-निर्धारण का प्रयास काव्य-शास्त्र के आदि-काल से होता आ रहा है।

साहित्य की प्रत्येक विधा का स्वरूप निर्धारण उसकी अपनी विशिष्टताओं पर हुआ करता है। संस्कृत महाकाव्यों में भी कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, यथा—कथानक का ऐतिहासिक, पौराणिक या लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति पर आधृत होना, नायक का उच्चकुलोद्भव होना, सम्पूर्ण कथा का सर्गों में विभाजित होना, सर्गों का सख्या में आठ या आठ से अधिक होना, शृंगार, वीर और शांत में से किसी एक रस को अगी और शेप को अंगरूप में ग्रहण किया जाना; धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्राप्ति होना आदि, जिनके आधार पर संस्कृत साहित्य-मनीपियों ने महाकाव्य के स्वरूप पर अपने-अपने विचार प्रगट किए हैं।

संस्कृत-साहित्य में महाकाव्य के स्वरूप पर सर्वप्रथम श्रेय भामह को है। उन्होंने अपनी पुस्तक में महाकाव्य के स्वरूप की विवेचना इस प्रकार की है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालंकारं सदाश्रयम्॥

मन्त्रदूत प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ।।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै पृथक् ।।

× × ×

नायकं प्रागुपन्यास्य वंशवचीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्याक्तर्षाभिधित्सया ।।
यदि काव्य शरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न चाभ्युदय भाक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ ।।

अर्थात् 'महाकाव्य' सर्गबद्ध होता है । वह महान् (विषय) का निरूपक और महान् होता है । उसमें अग्राम्य शब्द, सुन्दर अर्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए । उसमें मन्त्र, दूत-प्रकरण, युद्ध, नायक का अभ्युदय, पाँच संधियाँ हों । बहुत व्याख्या के योग्य न हो, उत्कर्षयुक्त हो ।

धर्म आदि चारों वर्गों का वर्णन होने पर भी प्रधानतया उसमें अर्थ उपदिष्ट हो । उसमें लोक-स्वभाव का वर्णन हो और सभी रसों का पृथक् निरूपण हो ।

कुल, बल, शास्त्राध्ययन आदि से नायक का उत्कर्ष बता कर, फिर दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से उस नायक का वध न दिखाया जाय ।

यदि उस नायक को काव्य के शरीर में व्यापक नहीं करना और उसका अभ्युदय न दिखलाना हो, तो उसका आश्रयण तथा पहले स्तुति करना भी व्यर्थ है ।

छठी शताब्दी में दण्डी ने भी अपनी पुस्तक काव्यादर्श में इस पर विचार किया । उन्होंने लिखा—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तु... वन्मुखम् ।।

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदय वर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥
अलंकृतम् संक्षिप्तं रसभावनिरंतरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम् ।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलंकृति ॥
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैःकाव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः ॥
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृति सुन्दरः ॥
वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥

अर्थात 'अनेक सर्गों में जहां कथा का वर्णन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसका लक्षण यह है कि वह आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु निर्देश द्वारा आरम्भ होता है। इसकी रचना ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी उत्कृष्ट कथा के आधार पर होनी चाहिए। यह काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फलदायक हो। इसका नायक चतुर (बुद्धिमान) तथा उदात्त होना चाहिए। यह नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, उपवन और जल-क्रीड़ा, मधुपान और प्रेमोत्सव आदि के वर्णनों से अलंकृत होना चाहिए। यह काव्य विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक के जय लाभ आदि के मनोहर प्रसङ्गों से युक्त होना चाहिए। यह विभिन्न वृत्तान्तों से सुशोभित तथा सविस्तार वर्णन द्वारा हृदयङ्गम होना चाहिए। इसमें रस तथा भावों की

लड़ी जुड़ी हो। इसके सर्ग वहुत लम्वे-लम्वे न हों। सर्गो के छंद श्रवणीय तथा अच्छी संधियों से युक्त होने चाहिएँ। सर्गो के अन्तिम श्लोक सर्वत्र भिन्न वृत्तों से युक्त होने चाहिएँ। यह काव्य लोक-रंजक तथा अलंकारों से अलंकृत होना चाहिए। ऐसा उत्तम काव्य महाप्रलय के वाद भी कल्पों तक स्थिर रहता है। महाकाव्य के उपरिवर्णित अंगों में से किसी की न्यूनता होने पर भी यदि उसमें प्रतिपाद्य विपयवस्तु, रूप-सम्पत्ति का गुण सौन्दर्य काव्य-रसिकों के चित्त को आकृष्ट कर लेता है तो वह काव्य दूपित नहीं होता है। प्रथम नायक के गुणों का वर्णन करके फिर उसके द्वारा उसके शत्रुओं की पराजय का वर्णन करना चाहिए। इस प्रकार की वर्णन-रीति स्वभावतः मनोहर शैली है। शत्रु के भी वंश, पराक्रम तथा पाण्डित्य आदि का वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय-प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना सन्तोपप्रद है।

लगभग इसी भाँति अग्निपुराण, काव्यालंकार, सरस्वती-कण्ठाभरण आदि में विचार प्रकट किए गए है किन्तु सर्वाधिक स्पष्ट और सुव्यवस्थित विवेचन १५वीं शताव्दी में विश्वनाथ ने अपनी पुस्तक साहित्य-दर्पण में किया है। उन्होंने लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः व कुलजाः वहवोऽपि वा॥
शृंगारवीरशांतनामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वाचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुण कीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यै रवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाइह॥

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥
संध्या सूर्यन्दुरजनी प्रदोष ध्वान्त वासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तु वनसागराः ॥
संभोग विप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्र पुत्रोदया दयः ॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥

अर्थात् 'जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्त्वादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटय-संधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निंदा और सज्जनों का गुणगान वर्णित होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक छन्द होता है किन्तु (सर्ग का) अंतिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें संध्या, सूर्य, रात्रि, प्रदोप, अन्धकार, दिन, प्रातः-काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, विवाह, यात्रा, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथा-सम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए। इसका नाम कवि के नाम से या चरित्र के नाम से, अथवा चरित्रनायक के नाम से होना चाहिए। सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम लिखा जाता है। संधियों के अङ्ग यहाँ यथा-सम्भव रखने चाहिएँ। जलक्रीड़ा, मधुपानादिक साङ्गोपाङ्ग होने चाहिएँ।

उपर्युक्त आलोचकों और अन्य अनेक आलोचकों द्वारा उपस्थापित महाकाव्य सम्बन्धी तत्त्वों पर यदि एक विहंगम दृष्टिपात किया जाय तो यह सर्वथा स्पष्ट है कि प्रायः सभी आलोचकों ने थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ समान तथ्य ही प्रस्तुत किए हैं। प्रायः सभी आलोचकों ने कथावस्तु, नायक, रस और उद्देश्य नामक तत्वों पर ही विचार किया है।

कथावस्तु के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचक इस तथ्य से सहमत है कि वह सर्गबद्ध और सानुबन्ध होनी चाहिए। उसका विभाजन सुविधानुसार सर्गों में होना चाहिए और सर्गों की संख्या ८ या ८ से अधिक होनी चाहिए। प्रत्येक सर्ग में चरित् नायक की कथा का समावेश होना चाहिए। इतना ही नहीं यह कथावृत्त ऐतिहासिक होना चाहिए और उसमें यथास्थान नूतन, मनोमुग्धकारी और काल्पनिक वृत्तों का संयोजन होना चाहिए। ऐतिहासिक कथा की इस अनिवार्यता का कारण यह है कि इसके द्वारा साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है। उसमें आदर्शों की स्थापना भी सहज सम्भव है।

नायक के संबंध में संस्कृत आचार्यों का विचार है कि वह धीरोदात्त गुण-सम्पन्न अर्थात् क्रोध-शोक से रहित, गभीर, क्षमावान, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर, अहंकाररहित और दृढ़वर्ती होना चाहिए। उनके अनुसार ऐसा नायक ही लोकरंजनकारी और लोकादर्श के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

रस के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में बड़ा वाद-विवाद रहा है। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी रस को काव्य की आत्मा के रूप में ही स्वीकार किया गया है। संस्कृत साहित्य-मनीषियों के अनुसार महाकाव्य में एक रस की ही प्रधानता होनी चाहिए और यह रस शृंगार, वीर और शांत में से कोई एक हो सकता है। शेष रसों का वर्णन एवं समाहार अंगीरूप में न होकर अंगरूप में होना चाहिए।

उद्देश्य की दृष्टि से यह माना गया है कि महाकाव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि से युक्त होना चाहिए। इस प्रकार से महाकाव्य के उद्देश्य में संस्कृत मनीषियों ने ऐहिक और आध्यात्मिक फलों का समन्वय कर दिया है।

महाकाव्य के उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त उसमें कुछ और भी गुणों का होना आवश्यक माना गया है यथा—आरंभ मंगलाचरण से होना चाहिए, एक सर्ग में एक ही छंद रहना चाहिए और अंत में बदल जाना चाहिए। परन्तु इन सबके सम्बन्ध में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सभी आचार्य एक मत नहीं हैं।

प्रश्न १४—संस्कृत महाकाव्यों के विकास पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये।

महाकाव्य जीवन की सर्वाङ्गीणता का दर्शन कराता है। वह अपनी विस्तृत और विशद परिधि में समस्त राष्ट्र और संस्कृति को आत्मसात् किये रहता है। फलतः विश्व के सभी साहित्यों में महाकाव्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है।

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण ही प्रथम महाकाव्य है। उसी को आदर्श मानकर पिछले महाकवियों ने महाकाव्य का प्रासाद खड़ा किया है। वस्तुतः महाकाव्य की कल्पना ही वाल्मीकि से प्राप्त हुई है किन्तु लौकिक संस्कृत के आदिम महाकाव्य आज उपलब्ध नहीं हैं। इस दिशा में वैय्याकरण पाणिनि ही महाकाव्य के प्रथम प्रणेता माने जाते हैं। परन्तु उनके 'जाम्बवती विजय' के कुछ श्लोक ही सूक्ति संग्रहकारों की कृपा से बचे हुए हैं। वररुचि के काव्य का उल्लेख भी पतजलि ने अपने महाकाव्य में किया है किन्तु उस ग्रंथ की भी कतिपय सूक्तियों के अतिरिक्त हमें कुछ पता नहीं चलता। वस्तुतः हमारे प्राचीनतम और सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास ही हैं। उन्हीं के उपरान्त यह परम्परा अविरल रूप से चलती रही और अश्वघोष, भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ, रत्नाकर, हरिचन्द्र, कबिराज तथा श्रीहर्ष आदि कवियों ने सुन्दर महाकाव्यों का प्रणयन किया।

कालिदास—कविकुल चूड़ामणि कालिदास द्वारा लिखे गए महाकाव्यों की संख्या दो है। इनके नाम हैं रघुवंश और कुमारसंभव। इनमें से रघुवंश में कवि ने १६ सर्गों में रघुवंशी राजाओं के जीवन-चरित् का वर्णन किया है।

राजा दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के राजाओं के चित्रण में कवि की प्रतिभा अपने पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हुई है। १०वें, १३वें, १४वें और १६वें सर्ग में तो कवि ने कमाल ही कर दिया है। किन्तु इतना होने पर भी इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है कि इस काव्य के भावों में एकता नहीं है। कवि स्वयं इस तथ्य से अनभिज्ञ रहा हो ऐसी बात भी नहीं कही जा सकती क्योंकि उसने इस न्यूनता को वर्णनों और सम्वादों के द्वारा पूर्ण किया है। इन वर्णनों के द्वारा कवि की व्यंजना शक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है।

कुमारसम्भव—यह कालिदास विरचित दूसरा महाकाव्य है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसकी रचना रघुवंश से पहले की गई किन्तु कुछ विद्वानों ने भाषा-शैली के आधार पर रघुवंश को पहले और कुमारसम्भव को बाद में प्रणीत माना है।

कुमारसम्भव का जो रूप आज उपलब्ध होता है उसमें १७ सर्ग हैं किन्तु अनुमान किया जाता है कि कालिदास का मूल काव्य पहले सर्ग से आठवें सर्ग तक ही था और शेष नौ सर्ग किसी बाद के कवि द्वारा जोड़ दिए गए हैं। इस काव्य पर मल्लिनाथ की टीका भी हमें केवल अष्ट सर्ग तक ही मिलती है। फलतः हम कुमारसम्भव में कालिदास की प्रामाणिक कृति प्रथम आठ सर्गों को ही मानते हैं। इन सर्गों में कवि ने एक समग्र एवं समन्वित कथावस्तु को चित्रित किया है। शिव तथा पार्वती जैसे देवताओं की प्रणय-गाथा को कवि ने मानवी रूप प्रदान कर दिया है।

कुमारसंभव की कथा का स्रोत सम्भवतः महाभारत रहा है, किन्तु कालिदास ने उसमें कुछ आवश्यक हेर-फेर अवश्य किए हैं। आरंभ में हिमालय का सजीव वर्णन, तृतीय सर्ग का वसन्त वर्णन, चतुर्थ सर्ग का रति-विलाप तथा पंचम सर्ग का पार्वती-ब्रह्मचारी संवाद कुमारसंभव के अत्यधिक मार्मिक स्थल हैं।

कुमारसंभव पूर्णतः रसवादी रचना जान पड़ती है। रघुवंश की भाँति कवि यहाँ किसी नैतिक व्यवस्था का पोषक नहीं दिखाई देता। यौवन की

सरस क्रीड़ा का वर्णन ही कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य जान पड़ता है, जिसे कवि ने पौराणिक इतिवृत्त के माध्यम से व्यक्त किया है। कुमारसंभव का कोई गंभीर उद्देश्य भी नहीं है और यदि कोई है भी तो वह काव्य की प्रभावोत्पादकता में पूरी तरह दब जाता है।

अश्वघोष—कालिदास के समान ही अश्वघोष ने भी दो महाकाव्यों का ही प्रणयन किया है। ये महाकाव्य हैं—१. बुद्ध चरित २. सौन्दरानन्द।

बुद्ध चरित्—इसमें भगवान बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धांतों का वर्णन है। इसके संस्कृत संस्करण में १३ सर्ग ही प्राप्त होते हैं किन्तु चीनी और तिब्बती भाषा के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इसमें २८ सर्ग थे। १९वीं शताब्दी में अमृतानन्द ने विद्यमान १३ सर्गों में अपनी ओर से ४ सर्ग और जोड़कर काशी में प्रथमोपदेश तक की कथा का वर्णन किया है। काव्यत्व की दृष्टि से इस ग्रन्थ के प्रथम पाँच सर्ग तथा त्रयोदश सर्ग के कुछ अंश सुन्दर बन पड़े हैं। शेष सारा बुद्धचरित् धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ-सा हो गया है।

सौन्दरानन्द—यह १८ सर्गों का महाकाव्य है। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में प्राप्त दो हस्तलेखों के आधार पर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसका प्रकाशन 'बिब्लओथेका इण्डिका' में किया है। इसमें गौतम के अनुज सुन्दरनन्द के बौद्ध धर्म से दीक्षित होने का रोचक वर्णन है।

अश्वघोष मूलतः शांतरस के कवि हैं। बुद्धचरित् तथा सौन्दरानन्द में ही नहीं, तुर्फान से मिले दो प्रकरणों तथा एक अन्यापदेशी नाटक के खण्डों से भी यही पुष्ट होता है। परन्तु अन्य रसों की कवि ने पूर्णतः उपेक्षा कर दी हो ऐसी बात भी नहीं है। कवि ने वीर, करुण तथा शृंगार रस का प्रयोग भी अपने काव्य में किया है। वस्तुतः बौद्ध भिक्षु की कृतियाँ होते हुए भी शृंगार रस का जो सरस वर्णन 'बुद्धचरित्' के तृतीय सर्ग के आरम्भ, चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में तथा सौन्दरानन्द के चतुर्थ तथा दशम सर्ग में मिलता है वह अश्वघोष के कवित्व को प्रतिष्ठित करने में अलम् है।

शैली की दृष्टि से अश्वघोष में कालिदास जैसी विलक्षणता नहीं मिलती किंतु उसमें नैसर्गिक ऊर्जस्विता और सौन्दर्य विद्यमान है। उसके वर्णन सर्वथा स्वाभाविक और प्रसंगोचित हैं। अलंकारों का समुचित उपयोग भी हमें अश्वघोष के काव्य में देखने को मिलता है। केवल उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जैसे सरल सरस अलंकारों का ही नहीं अपितु बहुत से कठिन अलंकारों का भी उसने बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। वस्तुत: उसके यहाँ अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है अपितु वह तो हुआ है मनोदशा का चित्र खींचने के लिए, मन के अंतर्द्वन्द का संकेत करने के लिए।

अश्वघोष का स्थान निश्चित रूप से संस्कृत महाकाव्यकारों की कोटि में नहीं आ पाता किंतु इतना होने पर भी उसका अपना महत्व है, और वह महत्व है उसके काव्य में उन काव्यरूढ़ियों के पाए जाने के कारण जो श्रीहर्ष तक निरन्तर प्रयुक्त होती रहीं।

अश्वघोष के पश्चात् तीन शताब्दी तक कोई भी प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय में साहित्यिक रचनाएँ प्राय: नहीं हुई हैं। कालिदास तथा अश्वघोष के उपरांत जिन महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है उनमें से अधिकांश के कथानक रामायण अथवा महाभारत पर आधृत हैं। उनमें काव्य-विषय गौण है, भाषा और शैली को अलंकृत करने की कला प्रमुख है। वस्तुत: कालिदास और अश्वघोष के बाद की रचनाओं में भावों का सुन्दर गुम्फन नहीं है, स्वाभाविकता, सरसता तथा नवीनता नहीं है।

भारवि—महाकाव्यकारों में कालिदास और अश्वघोष के उपरांत भारवि का नाम लिया जाता है। इनके रचना-काल के सम्बन्ध में कोई आंतरिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है किंतु वाह्य प्रमाण के आधार पर इनका रचना-काल ६०० ई० के आस-पास माना जाता है।

भारवि की कीर्ति का आधार-स्तम्भ उनका सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय है। १८ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में अर्जुन तथा किरातवेशधारी शिव का युद्ध वर्णित है। काव्य-कौशल की

दृष्टि से यह महाकाव्य भाव-गांभीर्य और अर्थ गौरव के लिए प्रसिद्ध है। वर्णन-वैभव, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण और वीर रस के परिपाक में कवि ने अद्भुत कुशलता दिखलाई है। उपमा, श्लेप, यमक आदि अलंकारों का समुचित प्रयोग किया है। दीर्घकाय समासों का प्रयोग उन्होंने प्राय: नहीं किया है। सरल भाषा का प्रयोग करने का प्रयास उनके समस्त काव्य में परिलक्षित है, उदाहरण के लिए निम्न पद को देखा जा सकता है जिसमें कवि ने दुर्योधन के प्रति लोगों की राजभक्ति का सुन्दर वर्णन किया है—

महौजस मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संपति लव्धकीर्तय:।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वांछन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥

अर्थात् 'तेजस्वी, स्वाभिमानी, ऐश्वर्यवान, धनुर्धारी, रणशूर तथा राजभक्त योद्धागण अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी दुर्योधन का प्रिय कार्य करने के लिए उत्सुक हैं।' किंतु भारवि में केवल गुण ही गुण हों दोष नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं है। कितने ही स्थलों पर उन्होंने पाण्डित्य-प्रदर्शन के कारण अपने काव्य को कृत्रिम बना दिया है। इसी प्रकार का एक उदाहरण देखिए—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्न नुन्ननत् ॥

अर्थात् 'नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जाने वाला पुरुष पुरुष नहीं और न वही पुरुष कहलाने योग्य है जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँची तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल मनुष्य को मार डालने वाला भी वास्तव में अपराधी नहीं है।'

भारवि में ऐसी कृत्रिमता केवल एकाध स्थल पर ही देखने को मिलती हो ऐसी बात नहीं है। कहीं उन्होंने केवल च् और र् का प्रयोग किया है कही स् श् य् और ल् का। इसी प्रकार से यदि कहीं प् और ल् का प्रयोग नहीं किया

गया है तो कहीं-कहीं ऐसे पद भी देखने को मिलते हैं जो सीधे और उल्टे दोनों प्रकार से पढ़े जाते पर एक रूप रहते हैं।

लेकिन इतना होने पर महाकाव्यों के इतिहास में भारवि का नाम अजर-अमर है।

भट्टि—संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में विद्वानों ने भारवि के बाद भट्टि का ही स्मरण किया है। संस्कृत-साहित्य के अन्य कवियों, नाटककारों आदि के समान इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं किंतु फिर भी ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये गुजराती या श्रीमाली ब्राह्मण थे और इनका समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सातवीं शताब्दी का आरम्भ है।

महाकवि भट्टि की कीर्ति का मूल आधार भट्टि-काव्य या रावण वध है। २२ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में रामचन्द्र के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की गाथा है। लेकिन काव्यानुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य काव्य के इतिवृत्त पर विशेष ध्यान देना नहीं है, अपितु उसने तो व्याकरण के जटिल नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही कथानक का आश्रय ग्रहण किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ एक शास्त्र-काव्य हो गया है और व्याकरण-ज्ञाताओं के लिए जहाँ यह दीप-तुल्य हो गया है वहां व्याकरण न जानने वालों के लिए उसी प्रकार है जैसे अन्धे के आगे दर्पण यथा कहा भी है—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥

लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भट्टि के पास कवि-हृदय का अभाव नहीं है। जब भी वे व्याकरण की तंग गली से निकल कर बाहर आते हैं, तभी वे सुन्दर कवित्व की झलक दिखा जाते हैं, उदाहरण के लिए निम्न चित्र को देखा जा सकता है—

विवृत्तपार्श्वं रुचिरांगहारं समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम्।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपांगनानृत्यमनन्दयत्तम्॥

वस्तुतः भट्टि के यहाँ भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष की ही प्रबलता है। भाषा-शैली, छंद और अलंकार का सुन्दर संगुम्फन उनके काव्य में सर्वत्र देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए प्रसादपूर्ण एवं प्राञ्जल भाषा में लिखित, एकावली अलंकार के निम्न स्थल को देखा जा सकता है—

न तज्जलं यत्र सुचारु पंकजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षटपदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

अर्थात इस सुहावनी शरद ऋतु में कोई ऐसा सरोवर नहीं है जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भ्रमर न बैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं जो गूँज न रहा हो और ऐसी कोई गुञ्जार नहीं जो मन को न हर लेती हो।

कुमारदास—संस्कृत महाकाव्य परम्परा के अगले प्रमुख कवि कुमारदास हैं। विद्वानों ने इनका रचना-काल ६५० ई० से ७५० ई० के मध्य में माना है। इन्होंने जानकीहरण नामक काव्य का प्रणयन किया है। इसमें कवि ने चिरपरिचित रामकथा को मौलिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कहा जाता है कि कवि ने यह कार्य २५ सर्गों में सम्पन्न किया था किन्तु कराल काल के परिणामस्वरूप आज केवल १५ सर्ग ही प्राप्य हैं।

काव्यानुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि में अद्भुत प्रतिभा थी, शब्दों का अक्षय भंडार था और उसके पास छंदों में नाद-सौंदर्य व्युत्पन्न करने की क्षमता थी। और वस्तुतः इन्हीं कारणों से राजशेखर आदि परवर्ती कवियों ने उसकी प्रशंसा इन शब्दों में की है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ॥

अर्थात रघुवंश के मौजूद रहते जानकी-हरण करने की क्षमता या तो रावण में थी या कुमारदास में।

माघ—संस्कृत-साहित्य में महाकवि माघ की ख्याति शिशुपाल-वध के प्रणेता के रूप में है। २० सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में भगवान कृष्ण का चरित् वर्णन है।

इस ग्रंथ के अनुशीलन से कवि के अगाध पांडित्य और अपूर्व काव्य-कौशल का परिचय प्राप्त होता है। उसके काव्य में यदि एक ओर व्याकरण, राजनीति, सांख्य योग, बौद्ध दर्शन, वेद, पुराण, अलंकार-शास्त्र, काम-शास्त्र संगीत विद्या, अश्व-विद्या आदि का पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन है तो दूसरी ओर कवित्व की भी कमी नहीं। रस-योजना, प्रकृति-चित्रण आदि क्षेत्रों में तो उसने कमाल ही कर दिया है। मानव मन को पूर्णतः पहचानने के कारण उसकी स्वभावोक्तियां भी बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं।

भावपक्ष के समान ही, कलापक्ष के क्षेत्र में भी माघ को अद्भुत सफलता की प्राप्ति हुई है। शब्दों के चयन में, अलंकारों के प्रयोग में और छन्दों के निर्वहन में कवि का कौशल प्रशंसनीय है। संस्कृत शब्दों पर इनका प्रभुत्व अतुलनीय है—'नव-सर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'। इसी प्रकार से श्लेष और चित्रकाव्य लिखने में कवि सिद्धहस्त है तथा एकादश सर्ग में मालिनी छन्द में लिखा गया प्रभात-वर्णन संस्कृत साहित्य में एक अनूठी चीज है।

संस्कृत साहित्य में महाकवि माघ का अतुलनीय स्थान है जिसका सबसे बड़ा प्रमाण विभिन्न व्यक्तियों द्वारा इनके सम्बन्ध में लिखी गई स्तुतियों से लगाया जा सकता है। कुछ एक देखिए—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा॥

अर्थात् कालिदास उपमा, भारवि अर्थगौरव तथा दण्डी तो पदलालित्य के क्षेत्र में ही कुशल हैं किन्तु माघ तीनों में।

कृत्स्नप्रबोधकृद्वाणी भारवेरिव भारवे।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते॥

अर्थात् जहाँ भारवि की कविता सूर्य-किरणों की भाँति समग्र ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है, वहाँ माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर किस कवि को कँपकँपी नहीं बँध जाती?

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा॥

अर्थात् जिस प्रकार माघ के ठिठुरते जाड़े में बन्दर सूर्य का स्मरण कर उछल-कूद नहीं मचाते, उसी प्रकार माघ की रचना के सामने बड़े-बड़े कवियों का पद-योजना करने में उत्साह ठण्डा पड़ जाता है, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण करें।

रत्नाकर—संस्कृत साहित्य में ये सर्वाधिक वृहत्काय महाकाव्य हर-विजय के प्रणेता माने जाते हैं, किन्तु इसकी प्रसिद्धि अधिक नहीं है। इनका रत्नाकर का स्थिति काल ८५० ई० के आस-पास माना जाता है।

'हर-विजय' में अन्धक के ऊपर प्राप्त की हुई शिव की विजय का वर्णन है। काव्य में आनुपाति सम्बन्ध का अभाव है किन्तु शैव दर्शन, नीतिशास्त्र, काम-सूत्र तथा इतिहास पुराण का सम्यक् ज्ञान इस काव्य में खूब देखने को मिलता है। साथ ही उसमें नाटच, संगीत, अलंकार तथा चित्रकला जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है।

क्षेमेन्द्र और राजशेखर आदि ने रत्नाकर की खूब प्रशंसा की है। राजशेखर का कथन है—

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव सत्कृतो धात्रा कवी रत्नाकरोऽपरः॥

अर्थात् ब्रह्मा ने चार रत्नाकरों (समुद्रों) को पर्याप्त न समझकर इस पाँचवे रत्नाकर (कवि) की सृष्टि की।

कविराज—रत्नाकर के अनन्तर कविराज विरचित 'राघवपाण्डवीय' महाकाव्य का उल्लेख किया जाता है। कविराज के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी विभिन्न विद्वान एकमत नहीं हैं यथा पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय इनका रचनाकाल १२ वीं शताब्दी मानते हैं तो प्रोफ़ेसर मैक्डानल के मतानुसार इनका स्थितिकाल ८०० ई० के लगभग है।

'राघवपाण्डवीय' महाकाव्य में कृत्रिमता की पराकाष्ठा हो गयी है। श्लेष अलंकार के आधार पर इसके प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ निकलते हैं, एक राम-कथा से सम्बन्धित और दूसरा महाभारत से सम्बन्धित। उदाहरण स्वरूप एक पद्य को देखिये—

नृपेण कन्यां जनकेन दित्सितामयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विज प्रकर्षेण स धर्मनन्दनः सहानुजस्तां भुवमभ्यनीयत ॥

रामायण के पक्ष में इसका अर्थ—(राम) जिन्होंने धर्म को आनन्दित किया था, अपने भाइयों के साथ ऋषि श्रेष्ठ (विश्वामित्र) द्वारा स्वयम्वर-स्थान (मिथिला) को ले जाए गए, जिससे वह राजा जनक की विवाह-योग्य अयोनिजा कन्या (सीता) को प्राप्त कर सकें।

महाभारत के पक्ष में—धर्म के पुत्र (युधिष्ठिर) अपने भाइयों के साथ मुनि श्रेष्ठ (वेदव्यास) की आज्ञा से स्वयंवर स्थान (पाँचाल) को गए जिससे वे राज-पिता (द्रुपद) की विवाह-योग्य अयोनिजा कन्या (द्रौपदी) को प्राप्त कर सकें।

कविराज का अन्य अनेक कवियों ने भी अनुकरण किया यथा हरदत्तसूरि ने राघवनैषधीय में नल और राम की कथा तथा विद्यामाधव ने 'पार्वती-रुक्मणीय' में शिव-पार्वती तथा कृष्ण रुक्मणी के विवाह का एक साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार से वेंकटाध्वरि ने यादवराघवीय नामक ग्रंथ में ऐसे श्लोकों का प्रणयन किया है जो सीधे पढ़ने से राम की कथा तथा उल्टे पढ़ने से कृष्ण की कथा का परिचय देते हैं।

श्रीहर्ष—महाकाव्य की परम्परा में अन्तिम महाकाव्य नैषधीय चरित् या नैषधीय है जिसे कन्नौज के महाराज जयचन्द्र के आश्रय में रहने वाले श्रीहर्ष ने १२ वीं शताब्दी में लिखा था। २२ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में नल-दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा बड़ी सरस शैली में वर्णित है।

भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से यह एक सुन्दर ग्रन्थ बन पड़ा है। रस-योजना, प्रकृति-चित्रण और दार्शनिक-चिंतन तीनों ही क्षेत्रों में कवि ने अद्भुत कौशल दिखलाया है। रस-योजना के क्षेत्र में कवि को श्रृंगार रस बहुत अधिक प्रिय है, यद्यपि वीर, शांत, करुण, हास्य आदि का अभाव भी उसके काव्य में नहीं है। श्रृंगार रस की मधुर व्यञ्जना में कवि की सहृदयता का परिचय निम्न चित्र से प्राप्त होता है जहाँ कवि ने दमयन्ती के अलौकिक सौंदर्य का चित्र खींचा है—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यविलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम् ॥

अर्थात्—जान पड़ता है, दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड़ कर उसका सार भाग खींच लिया है। इसी कारण बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ती है।

शब्द-योजना, अलंकारों के प्रयोग एवं छन्द कौशल की दृष्टि से भी नैषध अति सुन्दर ग्रन्थ बन पड़ा है। अलंकारों के क्षेत्र में तो कवि ने कहीं-कहीं इतना कौशल दिखलाया है कि काव्य अत्यन्त क्लिष्ट हो गया है। लेकिन इस प्रकार काव्य को क्लिष्ट करना तो श्रीहर्ष का प्रयोजन ही था। उन्होंने स्वयं लिखा है—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमनाहठेन पठिति मस्मिन्खलः खेलतु ॥
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढ़ग्रन्थिः समासादय—
त्वेत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥

अर्थात् पण्डित होने का दर्प करने वाला दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को हठपूर्वक जानने का चापल्य न कर सके, इसीलिए मैंने जान-बूझकर कहीं-कहीं इस ग्रन्थ में ग्रन्थियाँ लगा दी हैं। जो सज्जन श्रद्धाभक्तिपूर्वक गुरु को प्रसन्न करके इन गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में हिलोरें ले सकेंगे।

अनेक गुणों से पूर्ण श्रीहर्ष विरचित नैषध में दोषों का अभाव हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि किंवदन्ती है कि 'काव्य-प्रकाश' के कर्त्ता मम्मट ने नैषध की यह आलोचना की थी कि काव्य प्रकाश के सप्तम (दोष) उल्लास को लिखने से पहले यदि यह ग्रन्थ मुझे मिल गया होता तो काव्य के उदाहरण ढूंढने में मुझे इतना प्रयास न करना पड़ता क्योंकि काव्य के सारे दोषों के उदाहरण मुझे इसी में एकत्र मिल गए होते। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी संस्कृत महाकाव्यों के इतिहास में श्रीहर्ष का महत्वपूर्ण स्थान है।

नैषध के उपरान्त संस्कृत साहित्य में किसी उल्लेखनीय महाकाव्य के दर्शन नहीं होते। इसके बाद तो संस्कृत के काव्य-साहित्य में गीति, शतक, स्तोत्र और संग्रह आदि ग्रन्थों की ही प्रधानता रही।

प्रश्न १५—निम्नलिखित का काल-निर्णय कीजिए—

(क) कालिदास।

(ख) अश्वघोष।

(क) कालिदास का रचना काल—अन्य कवियों के समान ही कविकुल चूडामणि कालिदास के रचना-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में विभिन्न मत रहे है। परन्तु उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में प्रमुख मत तीन ही हैं—

१. छठी शताब्दी ई० का मत।

२. गुप्तकालीन मत।

३. प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत।

अब हम इन तीनों ही मतों के मानने वाले विद्वानों के विचारों की समीक्षा कर उपयुक्त मत की प्रस्थापना करेंगे। अस्तु।

छठी शताब्दी ई० का मत—इस मत के प्रवर्त्तक और प्रबल पोषक फर्गुसन महोदय हैं। इनके विचारानुसार उज्जयिनी नरेश हर्ष विक्रमादित्य ने ५४४ ई० में शकों को कहरूर के युद्ध में पराजित कर इस विजय के उपलक्ष्य में विक्रम सम्वत् का प्रचलन किया। इस सम्वत् को प्राचीनतम एवं अविस्मरणीय बनाने के हेतु उसने, उसे ६०० वर्ष पूर्व से चला कर उसका प्रारम्भ ५७ ई० पू० में माना। अतः इस मत के अनुसार कालिदास का स्थितिकाल छठी शताब्दी है। अपने इसी मत की पुष्टि के लिए फर्गुसन महोदय आगे प्रमाण देते हुए कहते हैं कि कालिदास के ग्रंथों में यवन, शक, पह्लव, हूण आदि जातियों के नामों का उल्लेख है। हूणों ने भारतवर्ष पर आक्रमण ५०० ई० में किया। अतः कालिदास का समय हूणों के इस आक्रमण के उपरांत ही मानना समुचित है। किन्तु इस मत का कोई अन्य प्रबल पोषक नहीं है। इसके विरोध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की आपत्तियाँ

प्रगट की हैं। पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय और डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास के द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. हर्ष विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित सम्वत् का प्रारंभ ६०० वर्ष पूर्व ही क्यों ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५०० ई० से पहले मालव सम्वत् ५२९ तथा विक्रम सम्वत् ४३० के प्रयोग मिलते हैं। अतः फर्गुसन का यह मत पूर्णतः धराशायी होता जाता है।

२. रघुवंश में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेताओं के रूप में नहीं आता। रघु ने अपने दिग्विजय में उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से प्रमाणित होता है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे।

३. ४७३ ई० की मन्दसोरवाली वत्स भट्टि रचित प्रशस्ति में ऋतु संहार और मेघदूत के कितने ही पद्यों की साफ झलक दीख पड़ती है। ऐसी स्थिति में कालिदास की छठी शताब्दी ई० में मानना कदापि उचित नहीं है।

४. यह सिद्धान्त भारतीय जनश्रुति के भी प्रतिकूल है।

वस्तुतः श्री पाण्डेय और व्यास जी द्वारा प्रस्थापित उपर्युक्त तथ्य संस्कृत साहित्य मनीषियों ने स्वीकार से कर लिए हैं। फलतः आधुनिक युग में इस मत का कोई समर्थक नहीं है।

गुप्तकालीन मत—कीथ आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने कालिदास का स्थितिकाल गुप्त नरेशों के साम्राज्यकाल में माना है। उनके मतानुसार शकों को भारत से बाहर निकालनेवाले, विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने पूर्व के मालव सम्वत् को विक्रम सम्वत् के नाम से प्रचलित करने वाले द्वितीय गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त (३७५-४१३ ई०) विक्रमादित्य थे, और कालिदास ने अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार भारतीय इतिहास के इसी स्वर्ण युग में किया था। उनका कथन है कि कालिदास की रचनाओं का अध्ययन करने से भी इसी तथ्य की ही पुष्टि होती है, क्योंकि—

१. कुमारसम्भव नामक महाकाव्य का प्रणयन सम्भवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रख कर किया गया है ।

२. चतुर्थ शताब्दी ई० की हरिषेण-कृत प्रयाग वाली प्रशस्ति में किए गए समुद्रगुप्त (३३६-३७५ ई०) के विजय-वर्णन में तथा 'रघुवंश' में वर्णित रघु के दिग्विजय की घटनाओं में वहुत सी समानताएँ देखने को मिलती हैं ।

३. कालिदास के ग्रंथों में चित्रित सुख-शांति का समृद्ध काल गुप्त काल का ही परिचायक है ।

४. कालिदास विरचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक वाकाटक के नरेश रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती के विवाहोत्सव पर लिखा या खेला गया होगा । इस ग्रंथ में जिस अश्वमेध यज्ञ का आलेखन है उसके द्वारा भी समुद्रगुप्त द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञ की ओर संकेत जान पड़ता है।

किन्तु डा० कीथ द्वारा प्रस्तुत किए गए ये तर्क अपने आप में अकाट्य नहीं हैं । विभिन्न विद्वानों ने इनकी सत्यता पर शंका उठाई है । स्व० पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय के अनुसार डा० कीथ द्वारा प्रतिपादित मत निम्न कारणों से ठीक नहीं कहा जा सकता—

१. यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे पराक्रमी नरेश ने स्वयं अपना सम्वत् न चला कर अपने से पूर्व प्रचलित मालव-सम्वत् को अपने नाम से जारी किया हो । साथ ही, यह भी ध्यान देने योग्य वात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने 'गुप्त सम्वत्' प्रचारित किया था । क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पितामह के सम्वत् को अस्वीकार करके अपना अलग सम्वत् चलाने की धृष्टता की होगी ? चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा जारी किया गया तथाकथित विक्रम सम्वत् उनके वाद की शताब्दियों में कहीं उल्लिखित नहीं है । स्वयं चन्द्रगुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रम सम्वत् का उल्लेख न होकर गुप्त सम्वत् का ही उल्लेख हुआ है । विक्रम सम्वत् का उल्लेख नवीं शताब्दी से पूर्व कहीं नहीं पाया जाता । अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा नवीन सम्वत् चलाए जाने की

अथवा किसी पूर्वकालीन सम्वत् को अपना नाम देने की घटना ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती। इस कारण कालिदास के स्थितिकाल के गुप्त-कालीन मत का मौलिक आधार ही अप्रमाणित हो जाता है।

२. कालिदास ने 'कुमार' शब्द का प्रयोग, सुत, पुत्र और आत्मज की भाँति साधारण अर्थ में ही किया है, किसी विशेष प्रयोजन से नहीं; मालविकाग्निमित्र में अश्वमेध का तथा भवनों की पराजय का उल्लेख हुआ है उसका वास्तविक सम्बन्ध शुङ्गवंश के प्रवर्त्तक से है; कालिदास कृत रघु का दिग्विजय-वर्णन ऐतिहासिक होते हुए भी एक कवित्वपूर्ण वर्णन है, वह बहुत कुछ पुराणों में पाए जाने वाले वर्णनों के ही समान है, उसकी ऐतिहासिकता के विषय में अभी और छान-बीन की आवश्यकता है, कालिदास के ही ग्रन्थों में जिन उक्तियों मे चन्द्रगुप्त द्वितीय की झलक दीख पड़ती है तथा समुद्रगुप्त काल की झाँकी दिखाई पड़ती है, उनमें भी मतैक्य नहीं है। व्याख्या के विशेष ढङ्ग से उनके नाना प्रकार के अर्थ लगाए जा सकते हैं।

३. किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त की उपाधि विक्रमादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति पहले हो चुका हो, जिसके अनुकरण पर बाद के महत्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में भी सीज़र उपाधिधारी राजाओं से पहले सीज़र नामक सम्राट् हो चुका था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी द्वितीय चन्द्रगुप्त से पूर्व विक्रमादित्य नामक कोई शासक अवश्य हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं विक्रमादित्य नहीं थे और न उनके समय में कालिदास की स्थिति ही मानी जा सकती है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत—कालिदास का रचनाकाल अब प्रथम शताब्दी ई० पू० माना जाने लगा है और यह उचित भी है क्योंकि—

१. कालिदास की लेखन शैली में कृत्रिमता का अभाव है, जो दूसरी शताब्दी के गिरिनार और नासिक के शिलालेखों में पाई जाती है। इससे यह सिद्ध है कि कालिदास दूसरी शताब्दी ईसवी के पूर्व हुए थे।

२. अग्निमित्र शुङ्गवंशी राजा पुष्यमित्र का पुत्र था जो १५० ई० पू० में हुआ। महाकाव्य में पुष्यमित्र का उल्लेख भी है। कालिदास मालविकाग्निमित्र के भरत-वाक्य में लिखते हैं कि राजा अग्निमित्र जब राज्य करते हैं तो कोई ऐसा नहीं है जिसकी प्रार्थना अग्निमित्र ने पूरी न की हो। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास राजा अग्निमित्र के राज-कवि थे और उनका (अग्निमित्र) समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुए थे।

३. कालिदास ने रघुवंश के छठे सर्ग में पाण्डय नरेश के सम्बन्ध में लिखा है—'अथोरगारव्यस्य पुरस्य नाथम्' अर्थात् पाण्डय देश के राजाओं की राजधानी उरगपुर थी। यह उरगपुर (उरियापुर) पांडच देश के राजाओं की राजधानी प्रथम शताब्दी में थी। इससे कालिदास इसी समय के आसपास के जान पड़ते हैं।

४. कालिदास का रचनाकाल उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य से बहुत अंशों तक सम्बद्ध है। किन्तु इन उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के शासनकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों का एकमत नहीं है। यदि एक विद्वान के अनुसार, ये प्रथम शताब्दी के आसपास हुए तो दूसरे के अनुसार चौथी शताब्दी में और तीसरे के अनुसार छठी शताब्दी में। लेकिन भारतीय जनश्रुति के अनुसार महाराज विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे जिन्होंने शकों को पराजित कर अपनी विजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० के विक्रमीय सम्वत् का प्रवर्त्तन किया। कथासरित्सागार में (जो प्रथम शताब्दी ई० की गुणाढय विरचित वृहत्कथा पर आधृत है) परमार वंश के विक्रमादित्य का उल्लेख प्राप्त होता है। कथासरित्सागर में उज्जयिनी का नरेश भी इन्हें ही माना गया है। नवीनतम ऐतिहासिक शोधों के अनुसार भी उक्त परमार वंशी विक्रमादित्य ही मौलिक विक्रमादित्य थे।

इस प्रकार से विक्रमादित्य का शासनकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० में निर्धारित होने पर हम कालिदास का रचनाकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० निर्विवाद रूप से मान सकते हैं।

अश्वघोष का रचनाकाल—संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम कवियों में अश्वघोष उन इने-गिने व्यक्तियों में से हैं जिनके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में अधिक मतभेद नहीं है। बौद्धग्रंथों ने अश्वघोष के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी को सुरक्षित रक्खा है और यही नहीं अश्वघोष के ग्रंथों को भी मूल तथा अनुवाद रूप में सुरक्षित रक्खा है। यह दूसरी बात है कि बौद्ध किंवदन्तियों के कारण कई ग्रंथ जो अश्वघोष की रचनाएँ नहीं हैं अश्वघोष के नाम पर प्रसिद्ध कर दिए गए हों और कुछ दूसरे सम-सामयिक बौद्ध व्यक्तित्वों को अश्वघोष के साथ घुला-मिला दिया गया हो। किन्तु इतना होने पर भी यह निश्चित ही है कि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। चीन में सुरक्षित परम्परा के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के गुरु थे।

अश्वघोष निश्चित रूप से नागार्जुन से प्राचीन हैं तथा नागार्जुन का उल्लेख हमें जगय्यपेटस्तूप के लेख में मिलता है, जो उसके प्रशिष्य के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया है। इस स्तूप के लेख की तिथि ईसा की तीसरी शताब्दी मानी जाती है तथा इसके आधार पर नागार्जुन की तिथि ईसा की दूसरी शताब्दी सिद्ध होती है। अश्वघोष नागार्जुन से दो पीढ़ी पुराने होंगे तथा इस तरह उनका समय कनिष्क के राज्यपाल के समीप ही आता है। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष कनिष्क के सम-सामयिक थे तथा उनका काल ईसा की प्रथम शताब्दी है।

अश्वघोष के इस काल के विषय में अन्य अन्तरंग तथा बहिरङ्ग प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। प्रथम, ईसा की पाँचवी शताब्दी में बुद्धचरित् का चीनी अनुवाद हो चुका था, अतः इससे पूर्व अश्वघोष का काव्य अत्यधिक लब्ध-प्रतिष्ठ हो चुका था। दूसरे, बुद्धचरित् महाकाव्य का अंतिम (२८ वाँ) सर्ग अशोक की संगीति का वर्णन करता है। फलतः अश्वघोष अशोक के परवर्त्ती थे। तीसरे, बौद्ध परम्परा के अनुसार महाकवि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। चौथे, अश्वघोष कृत शारिपुत्र प्रकरण के आधार पर प्रो० ल्यूडर्स ने यह कल्पना की है कि उसकी रचना कनिष्क या हुविष्क के समय हुई थी। पाँचवे, मातृचेट की शतपञ्चाशिका की शैली अश्वघोष की शैली से

स्पष्टतः प्रभावित जान पड़ती है। डा० जौन्सटन के मतानुसार मातृचेट कनिष्क का समकालीन था। सम्भवतः अश्वघोष तथा मातृचेट या तो सम-सामयिक थे या इनमें एकाध पीढ़ी का ही अन्तर था।

अन्ततः निष्कर्षरूपेण यह कहा जा सकता है कि अश्वघोष का रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी है।

प्रश्न १६—निम्नलिखित ग्रंथों का कथासार प्रस्तुत कीजिए—(क) बुद्धचरित्, (ख) सौन्दरानन्द, (ग) रघुवंश, (घ) कुमारसम्भव, (ङ) किरातार्जुनीय, (च) शिशुपाल वध, (छ) नैषधीय चरित्।

बुद्धचरित्—इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं जिनमें भगवान् बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धांतों का काव्य के बहाने वर्णन किया गया है। लेकिन आज इस ग्रंथ की जो संस्कृत प्रति उपलब्ध होती है उसमें केवल १७ ही सर्ग हैं। इन १७ सर्गों में भी अन्तिम चार सर्ग अमृतानन्द द्वारा जोड़े गए हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त ग्रंथ चौदहवें सर्ग के मध्य तक ही रह जाता है तथा प्रथम सर्ग भी पूरा नहीं मिलता। काव्य के प्रथम पांच सर्गों में जन्म से लेकर अभिनिष्क्रमण तक की कथा है। इसमें अन्तःपुर विहार, संवेगोत्पत्ति, स्त्रीनिवारण तथा अभिनिष्क्रमण वाले सर्ग काव्य कला की दृष्टि से बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। छठे तथा सातवें सर्ग में कुमार का तपोवन-प्रवेश है। अष्टम में अन्तःपुर का विलाप, नवम में कुमार के अन्वेषण का प्रयत्न, दशम सर्ग में गौतम का मगध जाना, एकादश में कामनिन्दा, द्वादश में महर्षि अराड के पास शान्ति-प्राप्ति के लिए जाना, त्रयोदश में मार-पराजय तथा चतुर्दश सर्ग के प्राप्त अंश में बुद्धत्व प्राप्ति है। इसके बाद का अंश जो डा० जौन्स्टन के आँग्ल अनुवाद से ही प्राप्य है बुद्ध के शिष्यों, उपदेशों, सिद्धान्तों, निर्वाण के वर्णनों तथा अशोककालीन संघ की स्थिति के चित्रों से परिपूर्ण है।

सौन्दरानन्द—यह एक अठारह सर्गों का महाकाव्य है। इसकी दो ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। दोनों दूषित तथा बुरी दशा में हैं और दोनों नेपाल महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इनके आधार पर शुद्ध और कहीं-कहीं पूरा पाठ करना असम्भव सा है। सौन्दरानन्द बौद्ध धर्म

के वहुमूल्य उपदेशों से भरा है। यह हीनयान सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, किन्तु कहीं-कहीं इसमें महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भी उल्लेख है। बुद्ध के जीवन सम्वन्धी जो कई दृश्य और घटनाएँ बुद्धचरित् में संक्षिप्त हैं या बिल्कुल नहीं हैं वे ही सौन्दरानन्द में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। इस दृष्टिकोण से इसे बुद्धचरित् का पूरक कहना बुरा न होगा।

सौन्दरानन्द में मूलतः सुन्दरी और नन्द की ही गाथा है। सुन्दरी नन्द की स्त्री थी और नन्द बुद्ध का भाई था। नन्द सुन्दरी पर वड़ा आसक्त था। बुद्ध ने अनिच्छुक नन्द को अपने धर्म में दीक्षित किया। पत्नी से वियुक्त हो कर नन्द वड़ा रोया और सुन्दरी के पास घर लौट जाना चाहा। भिक्षुओं ने उपदेश भरे शब्दों में उसे समझाने की खूब कोशिश की किन्तु सब व्यर्थ था। तब बुद्ध उसे लेकर हिमालय की ओर गए। वहाँ एक कानी शाखामृगी दिखाते हुए उन्होंने पूछा—'हे नन्द, इस कानी वन्दरी और अपनी प्रियतमा में से तुम किसे अधिक विलासवती और रूपवती समझते हो?' मुसकुराते हुए नन्द ने कहा—'हे भगवन्! कहाँ वह उत्तम स्त्री आपकी वधू और कहाँ यह पेड़ को पीड़ा पहुँचाने वाली शाखा-मृगी!' फिर इन्द्रलोक में अप्सराओं को दिखाकर बुद्ध ने नन्द से अप्सराओं और उसकी प्रियतमा के बीच का अन्तर पूछा। उसने उत्तर दिया—'हे नाथ, उस कानी शाखामृगी और आपकी वधू में जो अन्तर है वही इन अप्सराओं और आपकी वधू में।' अब अप्सराओं पर मुग्ध होकर नन्द ने उन्हें पाना चाहा। बुद्ध ने बताया कि रूप, सेवा, बल या दान से वे नहीं पाई जा सकतीं; उन्हें पाने का एकमात्र शुल्क या सफल साधन उत्तम तप है। तब वह तपस्वी हो गया और वीतरागी की भाँति आनन्द और विषाद से मुक्त हो गया। बुद्ध के शिष्य आनन्द ने नन्द को बताया कि स्वर्गानन्द का उपभोग क्षणिक है और स्वर्ग-निवास प्रवास मात्र है। क्योंकि पुण्य क्षीण होने से लोग वहाँ से लौट आते हैं। आनन्द के वचन की यथार्थता समझ कर नन्द अप्सराओं से विमुख हो गया। बुद्ध के पास जाकर अपनी अवस्था बताते हुए उसने कहा—"(अब) मैं सभी दुःखों के नाशक आपके परम धर्म में ही आनन्द पाता हूँ। अतः संक्षेप और विस्तार

से अपने पदों की व्याख्या कीजिए, जिसे सुनकर मैं परम पद पाऊँ।" उसने बुद्ध के उपदेश सुने, तदनुसार प्रयत्न किया और वह अर्हत् हो गया। कृतार्थ हो बुद्ध ने नन्द के दर्शन किए। गुरु और शिष्य एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हुए। दोनों ने एक दूसरे की हृदय से प्रशंसा की। कृतज्ञ शिष्य ने गुरु से प्रतिकार का उपाय पूछा। गुरु ने परोपकार करने का आदेश दिया। शिष्य को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—'वही जन उत्तम से उत्तम माना जाता है जो उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर अपने परिश्रम का विचार न करता हुआ दूसरों को भी शम का उपदेश देता है। अतः हे स्थिरात्मन्, रात्रिकाल में भटकते हुए तमोवृत जीवों के बीच इस धर्म-प्रदीप को धारण करो। घर में वधू भी तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियों को विराग का उपदेश देगी।'

अन्त में कवि ने इस काव्य का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है—"प्रायः लोगों को विषयरत और मोक्ष-विमुख देखकर मैंने काव्य के बहाने सत्य का उपदेश दिया है। मोक्ष ही सबसे ऊपर है। इस ग्रंथ में मोक्ष के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने के ही लिए (कहा गया है), जैसे कड़वी दवा को रुचिकर बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है।"

रघुवंश—१६ सर्गों में आबद्ध इस महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय लगभग वही है जो रामायण और पुराणों का। किन्तु इतना होने पर भी कवि कालिदास ने अपनी मौलिक-प्रतिभा के द्वारा उसे अत्यन्त रमणीय रूप प्रदान कर दिया है। ग्रंथ महाराजा दिलीप के वर्णन से प्रारम्भ किया गया है। आरम्भ में उसके (दिलीप के) अनेक गुणों का वर्णन है किन्तु दुर्भाग्यवश वह एक बार महाराजा इन्द्र की गौ सुरभि का यथोचित आदर-सत्कार न कर पाये जिसके फलस्वरूप उसने उन्हें निरपत्य होने का शाप दे दिया। इस शाप की शक्ति का नाश केवल सुरभि-सुता नन्दिनी से प्राप्त किए हुए वर के द्वारा ही संभव था। फलतः महाराजा दिलीप ने वशिष्ठ के उपदेश से वन में नन्दिनी की सेवा की। एक बार एक सिंह ने नन्दिनी पर आक्रमण करना चाहा। राजा

ने सिंह से प्रार्थना की कि तुम इस गाय को छोड़ दो और मेरे शरीर का मांस खाकर अपनी क्षुधापूर्ति करो। यह सिंह कोई वास्तविक सिंह नहीं था, वह तो केवल महादेव जी का अनुचर मात्र था और राजा की परीक्षा लेने आया था। राजा को नन्दिनी से अभीष्ट वर की प्राप्ति हो गई। अब राजा के यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ। इसका नाम रघु रक्खा गया। इसके बाद कवि का कथन है कि उसने (रघु ने) अनेक प्रकार की बालोचित क्रीड़ाएँ करते हुए यौवनावस्था को प्राप्त किया और अपने पिता दिलीप द्वारा दिए गए अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के हेतु इन्द्र तक से युद्ध किया। दिलीप के उपरान्त वह (रघु) सिंहासनासीन हुआ। अब कवि रघु की दिग्विजय का संक्षिप्त किन्तु ओजस्वी वर्णन करता है। कवि का कथन है कि रघु ने दिग्विजय के उपरान्त विश्वजित् यज्ञ किया जिसमें उसने विजयों में प्राप्त सारी संपत्ति दान दे दी। अपनी इस उदारता के फलस्वरूप रघु अकिंचन हो गया। अतः जब कौत्समुनि उसके निकट दान मांगने के हेतु उपस्थित हुए तो वह किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया। लेकिन कुबेर की सहायता ने उसकी इस कठिनता का निवारण किया। इसके उपरांत रघु के एक पुत्र का जन्म होता है जिसका नाम अज रक्खा जाता है। तदुपरान्त इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन आता है। कोई न कोई बहाना बनाकर वह अनेक राजकुमारों को वरने से छोड़ देती है। एक वीर को वह केवल यह कह कर नापसन्द कर देती है कि प्रत्येक की रुचि पृथक्-पृथक् होती है। किन्तु अन्ततः अज का वरण हो जाता है और विवाह सम्पन्न हो जाता है। इसी समय स्वयम्वर में हार खाए हुए राजा वर-यात्रा पर आक्रमण करते हैं किन्तु अज अपने अद्भुत पराक्रम के द्वारा अपने विपक्षियों को मार भगाता है। लेकिन दया करके उनकी जान नहीं लेता। इसके बाद अज की शांतिपूर्ण शासन-व्यवस्था का वर्णन है। इन्दुमती की आकस्मिक मृत्यु से अज पर मानो वज्रपात होता है। उसका समस्त धैर्य टूट जाता है। जीवन में चारों ओर उसे अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है। अनेक प्रकार की दी गई सांत्वनाएँ भी उसकी इस अवस्था को दूर नहीं कर पातीं। अब तो उसके अन्तस में यही इच्छा उठती है कि किसी प्रकार से उसकी भी अकाल मृत्यु हो जाए ताकि

वह स्वर्ग में पहुँचकर अपनी प्रिया से पुनः मिल सके। उसके उपरान्त उसका पुत्र दशरथ राजा बनता है। यहीं पर श्रवणकुमार की कथा आती है। तदुपरांत आगे के छः सर्गों में राम की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। फ़िर सोलहवें सर्ग में कुश की, सत्रहवें सर्ग में कुश के पुत्र की और अठारहवें तथा उन्नीसवे सर्ग में उनके अनेक उत्तराधिकारियों की कथा दे दी गई है। उत्तराधिकारियों में से कुछ के तो केवल नाममात्र का ही उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से सम्पूर्ण काव्य अपूर्ण रहता है, जिसका कारण सम्भवतः कवि की मृत्यु है।

कुमारसंभव—महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत यह महाकाव्य आज १८ सर्गों में उपलब्ध होता है किन्तु सम्पूर्ण ग्रंथ की काव्यशैली एक प्रकार की नहीं है। इस ग्रंथ को देख कर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रारंभिक आठ सर्ग तो कालिदास ने लिखे होंगे और शेष किसी अन्य कवि ने। केवल प्रारम्भिक आठ सर्ग ही महाकवि कालिदास के द्वारा रचे गए हैं इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मल्लिनाथी संजीवनी भी इन्हीं सर्गों पर है, आगे नहीं। संस्कृत के रीतिग्रन्थों में भी इन्हीं सर्गों से श्लोक उदाहरण के लिए प्रस्तुत किए गए हैं।

कवि ने अपने ग्रंथ का श्रीगणेश प्रकृति के चारु अङ्कन से किया है। इसीलिए प्रथम सर्ग में हिमालय का सजीव वर्णन हुआ है। इसी सर्ग में कवि ने पार्वती जन्म भी दर्शाया है। दूसरे सर्ग में देवता तारकासुर से त्रस्त होकर ब्रह्मा के पास जाते हैं और सहायता की याचना करते हैं। किन्तु ब्रह्मा किसी भी प्रकार की सहायता देने में असमर्थ हैं क्योंकि वे तो स्वयं ही तारकासुर के वर-प्रदाता हैं और अपने लगाए हुए विषवृक्ष का भी काटना उचित नहीं है। लेकिन इतना होते हुए भी वे एक परामर्श अवश्य देते हैं और वह यह कि यदि शिव और पार्वती का विवाह हो जाए तो उनसे उत्पन्न पुत्र तारक को मार सकेगा। इस कथन को सुन कर इन्द्र तृतीय सर्ग में कामदेव का स्मरण करता है। कामदेव अपने सखा ऋतुराज वसन्त और अपनी प्रिया रति के साथ आश्रम में प्रवेश करता है। इस अवसर पर तपोवन की सारी प्रकृति,

पुनरुच्छ्वसित हो उठती है। यहाँ तक कि पशु और पक्षी भी मन्मथोन्मथित हो जाते हैं। पार्वती शिव के सम्मुख आती है और शिव का धैर्य भी कुछ काल के लिए परिलुप्त-सा होने लगता है। किन्तु जब वह क्षुब्ध होकर अपना तीसरा नेत्र खोलते हैं तब कामदेव उसमें से निकली हुई अग्नि ज्वाला के द्वारा भस्मीभूत हो जाता है। चतुर्थ सर्ग में रति अपने पति की मृत्यु पर करुण विलाप करती है और सती होना चाहती है। उसी समय एक आकाशवाणी शिव और पार्वती के विवाह होने पर काम के पुनर्जन्म का आश्वासन देती है। पंचम सर्ग में पार्वती अपने उद्देश्य में असफल होकर घोर तप करती है। वह ज्येष्ठ में सूर्य की गरमी और अग्नि के ताप को सहन करती है। पौष की रात्रियों में ठण्डे पानी में पड़ी रहती है और घोर वर्षा में भी खाली शिलाओं पर सोती है। इतना ही नहीं वह गिरते हुए पत्तों को खाने से निषेध कर देती है और केवल अयाचित जल पर ही अपनी जीवन-नौका को खेती है। उसकी इस घोर तपस्या को देख कर शिव जी भी विकल हो जाते हैं और उसकी परीक्षा लेने के लिए एक ब्रह्मचारी के रूप में अवतरित होते हैं। पति-भक्ति की परीक्षा लेने के लिए ही वे उसके (पार्वती) सम्मुख शिव की निन्दा करते हैं। पार्वती ब्रह्मचारी रूप शिव को करारा उत्तर देती है। वह कहती है कि तुम शिव के यथार्थ रूप से नितान्त अपरिचित हो। इतना ही नहीं वह यह कहती हुई, 'महापुरुषों की निन्दा करना ही पाप नहीं है प्रत्युत निन्दा सुनना भी पाप है', वहाँ से प्रस्थान कर देती है। इसी समय शिव अपना यथार्थ रूप प्रकट कर पार्वती की कामना पूर्ण करते हैं। छठे सर्ग में सप्तर्षि और अरुंधती हिमालय से शिव के लिए पार्वती का हाथ मांगने जाते हैं। हिमालय मेना के परामर्श से स्वीकृति दे देते हैं। सप्तम सर्ग में शिव और पार्वती का राजसी ठाठ-बाठ से विवाह सम्पन्न होता है। अष्टम सर्ग में कामशास्त्र के नियमानुसार शिव-पार्वती की प्रेम-लीला का विस्तृत वर्णन है।

किरातार्जुनीय—भारवि ने अपने इस ग्रंथ की रचना का मूल आधार महाभारत को ही बनाया है। इन्द्र तथा शिव को प्रसन्न करने के लिए की

गई अर्जुन की तपस्या को आधार बनाकर ही कवि ने १८ सर्ग के महाकाव्य के वितान का पल्लवन किया है।

'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य का श्रीगणेश द्यूत क्रीड़ा में पराजित हुए पाण्डवों के द्वैतवनवास से होता है। लेकिन युधिष्ठिर यहाँ रह कर भी दुर्योधन की ओर से निश्चिंत नहीं हैं। वे एक वनेचर को दुर्योधन की प्रजा-पालन सम्बन्धी नीति को जानने के लिए चर बनाकर भेजते हैं। गुप्तचर बने हुए वनेचर के लौटने और उसके युधिष्ठिर के पास पहुँचने से काव्य का इति-वृत्त चलता है। वनेचर दुर्योधन के शासन का पूरा विवरण देता है। साथ ही इस बात का संकेत भी देता है कि द्यूत-क्रीड़ा के माध्यम से जीती हुई पृथ्वी को वह नीति से भी जीत लेने की चेष्टा में लगा हुआ है—

दुरेदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः।

समस्त तथ्य एवं विवरण देने के उपरांत वनेचर लौट जाता है और द्रौपदी आकर युधिष्ठिर को युद्ध के लिए उत्तेजित करती है। वह कटु शब्दों का प्रयोग करती हुई युधिष्ठिर की तपस्विजनोचित शांति, दूसरे शब्दों में कायरपन की भर्त्सना करती है। द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में भीम द्रौपदी के विचार का समर्थन करता है और युधिष्ठिर को इस बात का विश्वास दिलाता है कि रणस्थली में उसके चारों भाइयों के सम्मुख ठहरने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। लेकिन नीतिविशारद युधिष्ठिर भीम के समस्त तर्कों को अपनी नीतिपूर्ण उक्तियों द्वारा शान्त कर देते हैं। वे इस बात का संकेत देते हैं कि उन्हें उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब पाण्डवों के मित्र पाण्डवों की सहिष्णुता की अत्यधिक प्रशंसा करने लगें तथा दुर्योधन के अभिमानी व्यवहार से अपमानित कई राजा उससे अलग हो जाएँ। इसी सर्ग में भगवान् व्यास का प्रवेश होता है। अगले अर्थात् तीसरे सर्ग में वे अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्ति के लिए इन्द्र की तपस्या करने और दिव्य-सहाय्य प्राप्त करने के लिए कहते हैं। तदुपरांत गुह्यक अर्जुन को पर्वत पर ले जाने के लिए आ जाता है। इस के वाद के आठ सर्गों में अर्थात् चौथे सर्ग से ११वें सर्ग तक कवि की नवोन्मेष-

शालिनी प्रतिभा प्रस्फुटित होती है। इन सर्गों में शिशिर, हिमालय, स्नान, क्रीड़ा, संध्या, सूर्यास्तगमन, चन्द्रोदय, प्राकृतिक दृश्यों आदि का चित्रण बड़े ही रमणीय ढंगों में किया गया है। साथ ही अर्जुन की कठोर तपस्या और इन्द्र द्वारा उसे भंग करने के प्रयास का भी उल्लेख है। लेकिन अर्जुन का व्रत भंग नहीं होता। फलतः इन्द्र प्रसन्नचित्त हो उसके पास आते हैं तथा शिव की आराधना करने के लिए परामर्श देते हैं। अर्जुन पुनः तपस्या करता है। इधर एक मायावी दैत्य अर्जुन को मारने के लिए सूअर का रूप धारण करता है। इस बात को जानकर भगवान् शिव अर्जुन की रक्षा के हेतु किरात का मायावी वेश धारण करते हैं। तेरहवें सर्ग में सूअर के प्रवेश का वर्णन है। किरात तथा अर्जुन दोनों सूअर पर एक साथ बाण छोड़ते हैं। अर्जुन का बाण सूअर को मार कर पृथ्वी में घुस जाता है। बाद में बचे हुए बाण के लिए किरात तथा अर्जुन का वादविवाद चलता है। यह विवाद पन्द्रहवें सर्ग में युद्ध का रूप धारण कर लेता है। युद्ध में पहले दोनों अस्त्रों-शस्त्रों से लड़ते हैं, बाद में कुश्ती पर उतर आते हैं। इसी समय अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रकट होते हैं तथा अर्जुन की पाशुपतास्त्र-प्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण करते हैं और इसके साथ ही काव्य की समाप्ति होती है।

शिशुपालवध—महाकवि माघ विरचित 'शिशुपालवध' बीस सर्गों में निबद्ध एक सुन्दर प्रबन्ध-काव्य है। यद्यपि इस महाकाव्य का कथानक 'महाभारत' से लिया गया है लेकिन लेखक ने अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा इसे अत्यधिक रमणीय रूप प्रदान कर दिया है। यद्यपि इस महाकाव्य में कृष्ण तथा शिशुपाल के वैर की तथा युद्ध में कृष्ण के द्वारा शिशुपाल के वध किए जाने की कथा का वर्णन है लेकिन शिशुपाल तथा कृष्ण के पुराने वैर—रुक्मिणीहरण वाली कथा का वर्णन इस रचना में नहीं है। केवल द्वितीय सर्ग के ३८वें श्लोक में ही रुक्मिणीहरण वाली कथा का संकेत प्राप्त होता है।

इस महाकाव्य का आरम्भ देवर्षि नारद के आगमन से होता है। नारद ऋषि का आदर-सत्कार करने के उपरान्त कृष्ण उनसे आने का कारण पूछते

हैं। नारद ऋषि बतलाते हैं कि शिशुपाल के अत्याचारों के कारण इन्द्र बहुत भयभीत है तथा इन्द्र ने उन्हें कृष्ण के पास सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा है। इस प्रकार से नारद मुनि कृष्ण के पास आकर इन्द्र की ओर से शिशुपाल के वध के लिए प्रेरणा देकर चले जाते हैं। तदुपरांत कृष्ण बलराम और उद्धव से सलाह लेते हैं। मंत्रणा लेने का यह कार्यक्रम द्वितीय सर्ग से आरम्भ होता है। इसी समय युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का निमंत्रण प्राप्त होता है। अब इस बात पर बहस होती है कि पहले शिशुपाल का वध किया जाए अथवा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हुआ जाए। बलराम शिशुपाल के साथ युद्ध करने का प्रस्ताव रखते हैं। लेकिन उद्धव राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने की सम्मति देते हैं। आखिरकार यही निश्चय होता है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए। तीसरे सर्ग में कृष्ण की सेना इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान कर देती है। चतुर्थ सर्ग में वह रैवतक पर्वत तक पहुँचती है। इसी सर्ग में कृष्ण का सारथि दारुक रैवतक पर्वत की रमणीयता का वहुत उदात्त वर्णन करता है। पाँचवे सर्ग में सेना उस पर्वत पर पड़ाव डाल देती है। छठे सर्ग में षड् ऋतुओं का वर्णन है जो रैवतक पर्वत पर कृष्ण की सेवा के लिए अवतीर्ण हुई हैं। सातवे सर्ग में यदुदम्पत्तियों के वन-विहार का वर्णन है। अष्टम सर्ग में जल-क्रीड़ा का वर्णन किया गया है। नवम सर्ग का आरम्भ सूर्यास्त के वर्णन से होता है। तदुपरांत चंद्रोदय का रोचक वर्णन आता है। इसी सर्ग में कहीं दम्पतियों तथा प्रणयी नायक-नायिकाओं को मिलाने के लिए दूतीकर्म का वर्णन किया गया है; तो कहीं उनकी केलि-क्रीड़ाओं के पूर्वरङ्ग के रूप में आहार्य-प्रसाधन की शोभा का वर्णन किया गया है। दशम सर्ग में रमणियों के प्रियतम उनके साथ मद्यपान तथा सुरत-क्रीड़ा में रत हो जाते हैं। एकादश सर्ग में प्रातः काल का मनोमुग्धकारी वर्णन है। यह सर्ग महाकवि माघ के बेजोड़ सर्गों में से है, जिसके समान वर्णन संस्कृत साहित्य के अन्य काव्यों में ठीक इसी पैमाने पर उपलब्ध होना बहुत कठिन है। बारहवें सर्ग में सेना के प्रस्थान करने का वर्णन है। तेरहवें सर्ग में इन्द्रप्रस्थ की पुरनारियों का चित्रण है

जो कृष्ण को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। चौदहवें सर्ग में यज्ञ का वर्णन किया गया है। इसी सर्ग में कृष्ण की पूजा भी की जाती है। इस सर्ग के पूर्वार्ध के अध्ययन से कवि के दर्शन, मीमांसा तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल कृष्ण की अग्रपूजा से रुष्ट होकर कृष्ण, भीष्म तथा युधिष्ठिर को बहुत खरी-खोटी सुनाता है। सोलहवें सर्ग में शिशुपाल का दूत द्वयर्थक संदेश लाता है। इस संदेश का आशय यह है कि या तो कृष्ण शिशुपाल की आधीनता स्वीकार कर लें नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाएँ। दूत के इस संदेश का उत्तर सात्यकि देते हैं। सत्रहवें तथा अठाहरवें सर्ग में दोनों पक्षों की सेनाओं की युद्ध सम्बन्धी तैयारी का वर्णन है। उन्नीसवें तथा बीसवें सर्ग में युद्ध का वर्णन है। बीसवें सर्ग में ही कृष्ण सुदर्शनचक्र से शिशुपाल की गरदन काट लेते है और इस प्रकार यह महाकाव्य समाप्त हो जाता है।

नैषधीय चरित्—महाकवि श्रीहर्ष विरचित 'नैषधीय चरित्' २२ सर्गों में निबद्ध एक बहुत बड़ा महाकाव्य है। इसमें लेखक ने महाभारत में वर्णित नल-सम्बन्धी आख्यान के एक बहुत छोटे से अंश को ग्रहण किया है। नल तथा दमयन्ती के पारस्परिक प्रेम, उनके विवाह तथा विवाहोपरांत क्रीड़ाओं आदि के वर्णन द्वारा ही काव्य को समाप्त कर दिया गया है। इस महाकाव्य का आरम्भ नल के वन-विहार से होता है। वनविहार में राजा नल एक हंस को पकड़ लेते हैं लेकिन उसकी दयनीय अवस्था से द्रवीभूत होकर उसे छोड़ देते हैं। वह हंस अपना ऋण चुकाने के लिए दमयन्ती के पास जाता है तथा राजा नल के रूप-सौंदर्य और गुणों का उल्लेख करता है। दमयन्ती राजा नल के गुणों को सुन कर उससे प्रेम करने लगती है। उधर दमयन्ती के पिता भीम, दमयन्ती के विवाह के लिए स्वयंवर की आयोजना करते हैं। दमयन्ती के अलौकिक रूप-सौंदर्य के कारण इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम भी उसकी ओर आकर्षित होते हैं। वे नल को तिरस्कारिणी विद्या दे कर अपने दूत के रूप में दमयन्ती के पास प्रेषित करते हैं। नल अपने कर्त्तव्य का पालन

पूर्ण कौशल के साथ करते हैं लेकिन दमयन्ती का नल-सम्बन्धी प्रेम तनिक भी नहीं डिगता।

स्वयंवर के अवसर पर चारों देवता नल का रूप धारण करके आते हैं। सरस्वती स्वयं द्वयर्थक वाक्यों से सबका परिचय कराती है। अब दमयन्ती पाँच नलों को देख कर तथा द्वयर्थक वाक्यों को सुनकर बड़े असमंजस में पड़ जाती है। अन्ततः वह देवताओं की वन्दना करती है जिससे प्रसन्न होकर देवता अपने विशिष्ट चिह्न प्रदर्शित कर देते हैं तथा दमयन्ती वास्तविक नल का वरण कर लेती है। अब देवता स्वर्ग को लौट जाते हैं। स्वर्ग को जाते समय वे मार्ग में कलियुग को देखते हैं। कलि नास्तिकवाद की प्रस्थापना करता है जिसके फलस्वरूप देवताओं का कलि से घोर वाग्युद्ध होता है। इस वाग्युद्ध में देवता कलि को पराजित कर देते हैं। उधर राजा नल भी दमयन्ती सहित अपनी राजधानी पहुँच जाते हैं तथा प्रथम मिलन-रात्रि के आनन्द का उपभोग करते हैं। यह समस्त वर्णन १८ सर्गों में समाप्त होता है। शेष चार सर्गों में राजा नल और रानी दमयन्ती की दैनिक चर्या का वर्णन है। ये चार सर्ग देवस्तुति, सूर्योदय तथा विलासमय चाटूक्तियों से आपूर्ण हैं।

'नैषधीय चरित्' के इस छोटे से कथानक को देखकर अनेक विद्वानों का विचार है कि यह ग्रंथ पूरा उपलब्ध नहीं है। मूल ग्रंथ में सर्गों की संख्या १०० के आस-पास रही होगी। लेकिन इस मत को न तो स्वीकार ही किया जा सकता है और न अस्वीकार ही। इसका कारण यह है कि जहाँ इस महाकाव्य के अन्त में 'श्रीरस्तु नस्तुष्टये' तथा अन्य चार श्लोक ग्रंथ की परिसमाप्ति की सूचना देते हैं वहाँ इन श्लोकों पर किसी ने टीका नहीं की है जिसके फलस्वरूप इन श्लोकों को निर्भ्रांत रूप से मौलिक भी नहीं माना जा सकता।

प्रश्न १७—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—

(क) उपमा कालिदासस्य।

(ख) भारवेरर्थगौरवम् ।

(ग) माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।

(क) उपमा कालिदासस्य—संस्कृत साहित्य में कालिदास उपमा के लिए विशेष प्रसिद्ध रहे हैं यथा—'उपमा कालिदासस्य' और वस्तुतः यह ठीक भी है। उपमा के एक से एक सुन्दर प्रयोग उनके यहाँ देखे जा सकते हैं। कालिदास की उपमाओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कृत्रिम न होकर सुन्दर, सरल और स्वाभाविक हैं। उनमें उच्छिष्टता न होकर नवीन कल्पना है और वे चुनी गई हैं बहिर्जगत और अन्तर्जगत से, जीवन के और ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र से। इतना ही नहीं कवि ने उपमान और उपमेय के लिंग-वचन में समता का भी ध्यान रक्खा है। कालिदास की उपमाएँ अनुरूपता, सरसता तथा अपूर्वता की दृष्टि से भी बेजोड़ हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि दिलीप और सुदक्षिणा के मध्य में नन्दिनी गाय इसी प्रकार से शोभा पा रही है जैसे दिन और रात के मध्य में होने वाली रक्तवर्णा संध्या—

पुरस्कृतः वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदनन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ।।

तो अन्यत्र दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा के नन्दिनी के पीछे जाने की तुलना श्रुति के अर्थ के पीछे स्मृति के अनुगमन से की गई है—

'तस्या……मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।'

इसी प्रकार से एक स्थान पर कवि का कथन है कि पौर स्त्रियाँ राजकुमार अतिथि का अपने नेत्रों द्वारा उसी प्रकार अनुसरण कर रही थीं जिस प्रकार चमकते हुए तारों वाली शरद् ऋतु की रात्रियाँ ध्रुव नक्षत्र का अनुगमन करती हैं—

शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिभिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ।

कालिदास की उपमाएँ केवल रमणीय ही नहीं हैं अपितु यथार्थ भी हैं यथा एक स्थल पर कवि ने कहा है—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

अर्थात् स्वयंवर के समय इन्दुमती जिस राजा को छोड़ती जाती है, उसके मुख पर निराशा की ऐसी कालिमा छा जाती है जैसी राजमार्ग के उन महलों पर जिन्हें रात्रि के समय आगे बढ़ने वाली दीपशिखा पीछे छोड़ती चली जाती है।

उपमाओं की विविधता भी कालिदास के यहाँ दर्शनीय है। एक स्थान पर यदि वे दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा के नन्दिनी के पीछे जाने की तुलना श्रुति के अर्थ के पीछे स्मृति के अनुगमन से करते हैं तो दूसरे स्थान पर दिलीप और सुदक्षिणा के मध्य में नन्दिनी ऐसी शोभा पाती हुई दीखती है जैसे दिन और रात के बीच सन्ध्या।

कालिदास ने अपनी उपमाओं का चयन विभिन्न स्थानों से किया है यथा एक स्थान पर शास्त्रों से उपमा ग्रहण करते हुए वे लिखते हैं—ब्राह्म सरोवर से निकलने वाली सरयू सांख्य-शास्त्र के अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धि तत्त्व की तरह है। इसी प्रकार से अन्यत्र व्यवहार और अनुभव से सूझी हुई उपमाएँ मिलती हैं—दुष्यन्त को सौंपी गई शकुन्तला सुपात्र को दी गई विद्या के समान है। इतना ही नहीं कतिपय स्थलों पर तो कवि ने व्याकरण आदि के क्षेत्रों से भी उपमाएँ ग्रहण की हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि कालिदास की उपमा में अनुपम छटा है। अन्य कोई कवि इस दिशा में कालिदास की क्षमता नहीं कर पाया है। यद्यपि भवभूति की उपमाएँ भी बिल्कुल उपयुक्त हैं परन्तु वे कठिन हैं और उनमें कालिदास के समान सरलता, समता और व्यंजकता का अभाव है। इसी कारण से प्राचीनों और आधुनिकों के द्वारा कालिदास की उपमाओं की प्रशंसा उचित ही है।

(ख) भारवेरर्थगौरवम्—संस्कृत साहित्य में कालिदास यदि उपमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं तो भारवि अर्थगौरव के लिए। अल्प शब्दों में ही विपुल अर्थ

समाविष्ट करने में भारवि ने अद्भुत कौशल दिखलाया है और इसीलिए आलोचकों ने 'भारवेरर्थगौरवम्' कहकर इनकी प्रशंसा की है।

भारबि ने अल्प पदों में ही वहुत भारी भाव दिखलाने के लिए दोनों हीं प्रकार के शब्दों, पदों और वाक्यों का प्रयोग किया है अर्थात् यदि कहीं भावाभिव्यक्ति के लिए सरल शब्दावली, पदावली और वाक्यावली को अपनाया गया है तो कहीं कठिन पदों और वाक्यों के मूल में ही उनकी भाव-धारा का प्रस्फुटन हुआ है। उनके सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के आरम्भिक तीन सर्गों में मूलतः कठिन शब्दावली का ही प्रयोग हुआ है। इसी लिए साहित्य-मर्मज्ञों ने एकमत से उन तीन सर्गों को पाषाणत्रय की संज्ञा से अभिहित किया है। किरातार्जुनीय के टीकाकार मल्लिनाथ सूरि ने तो उसे नारियल के सदृश्य बताया है जिसे फोड़कर, कठिन भाग दूर करने पर, अन्दर भीनी-भीनी गन्ध वाला पौष्टिक एवं रसपूर्ण पदार्थ मिलता है—

नारिकेलफल सम्मित वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भर सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

भारवि ने अल्प शब्दों द्वारा विपुल अर्थ व्युत्पन्न करने के लिए श्लेष का प्रयोग किया है। यथा—

कथाप्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसुनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद्व्यथवे नताननः सुदुःसहान्मन्त्रपदांविरोरगः ॥

अर्थात् जिस तरह सर्प विषवैद्य के द्वारा पढ़े गए असह्य मन्त्र को सुन कर—जिसमें गरुड़ तथा वासुकि का नाम होता है—विष्णु के पक्षी गरुड़ के पराक्रम का स्मरण कर, अपने फण को नीचे गिरा देता है, उसी प्रकार से जब दुर्योधन बातचीत में लोगों के मुंह से युधिष्ठिर का नाम सुनता है तो अर्जुन की वीरता को याद कर चिन्ता के कारण सिर झुका लेता हैं।

किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा है कि काव्य के पद-प्रयोग में अस्पष्टता न हो, अर्थ में पुनरुक्ति न हो तथा अर्थ सामर्थ्य को कुचल न दिया जाए—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितम् क्वचित् ॥

भारवि ने अल्प शब्दावली के आधार पर गम्भीर अर्थों का सृजन ही नहीं किया है अपितु इस बात का भी ध्यान रक्खा है कि उनके शब्दों से निःसृत अर्थ अध्येता के अंतस में साकार रूप धारण कर ले और कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि को इस दिशा में भी सफलता की प्राप्ति हुई है, एक दो पद देखिए कितने सुन्दर बन पड़े हैं अपने आप में—

स सासि सासुसूः सासो येयायेयाययायः ।
ललौ लीलाँल्लोऽलोलः शशीशशि शुशीः शशन् ॥

अर्थात् खड्ग, बाघ तथा धनुप से युक्त होकर यान साध्य ('यान' राजनीति का पारिभाषिक शब्द है तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय, इन छः गुणों में से एक है। आक्रमण के लिए शत्रु के प्रति विजिगीषु प्रस्थान यान कहलाता है) तथा अभावसाध्य लाभादि को प्राप्त करने वाले, शोभा सम्पन्न, निश्चल प्रकृति वाले अर्जुन ने जिसने चन्द्रमा के स्वामी (शिव) के पुत्र (कार्तिकेय) को हरा दिया था (खरगोश की सी) प्लुत गति से युक्त होकर अर्थंस् तेज से फुदक कर अपूर्व शोभा को प्राप्त किया।

न नोननुन्नो नुन्नेनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्न नुन्न नुत् ॥

अर्थात् नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जाने वाला पुरुप पुरुष नहीं और न वही पुरुष कहलाने योग्य है जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँची तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल मनुष्य को मार डालने वाला भी अपराधी नहीं है।

अल्प शब्दों में ही विपुल अर्थ सन्निहन के लिए कवि ने अर्थालङ्कारों विशेषतः साधर्म्यमूलक अलङ्कारों से बहुत सहायता ग्रहण की है। उपमा,

रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, निदर्शना आदि के अतिरिक्त यमक, श्लेष तथा प्रहेलिकादि के प्रयोग में कवि पूर्णतः दक्ष है। यहाँ पर एक दो उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। नीचे के पद्य में उपमा का सरस शृङ्गारी प्रयोग है—

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहित पाण्डुतागुणाम्।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवादित्त यौवनां भुवम्॥

अर्थात् 'तब लोकप्रिय अर्जुन कृषकादि जनों से युक्त पृथ्वी के पास उसी तरह गया, जैसे कोई नायक प्राप्त-यौवना प्रेयसी के पास जाता है। शरद्-भूमि पर कलहंस उसी तरह कूज रहे थे, जैसे नायिका की करधनी झणझणायित हो रही हो और उसके पके धान्य की पाण्डुता नायिका के गौर वर्ण के समान दिखाई दे रही थी।' इसी प्रकार से प्रकृति के वर्णन में रूपक का अप्रस्तुत विधान निम्न पद्य में अति उत्कृष्ट बन पड़ा है—

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजरजः।
अनाविलोन्मीलित बाणचक्षुः सपुष्पहासा वनराजयोषितः॥

अर्थात् अर्जुन ने उन वनपंक्तिरूपी युवतियों को देखा, जो वायु से बिखरे हुए सप्तपर्ण के पीले पराग को वायु से उड़ते उत्तरीय की तरह सम्हाल रहीं थीं, जिनके सुन्दर बाण-पुष्पों के निर्मल नेत्र विकसित हो रहे थे तथा जो पुष्पों के विकास रूपी हास से युक्त थीं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि भारवि अपने उद्देश्य में सफल रहे हैं और उनके काव्य की प्रशंसा में लिखी गई कृष्णकवि की निम्न उक्ति ठीक ही है—

प्रदेशवृत्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥

(ग) माघे सन्ति त्रयो गुणाः—माघ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'। इस पद्यांश में उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य इन तीनों गुणों की ओर संकेत किया गया है। सम्पूर्ण पद्य में कालिदास को उपमाओं का, भारवि को अर्थगौरव का और

दण्डी को पद-लालित्य का आचार्य बतलाया गया है। अन्ततः माघ को इन तीनों गुणों का आचार्य बतलाया गया है।

वस्तुतः ये तीनों ही गुण माघ में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उपमा, अर्थ-गौरव और पद-लालित्य में से किसी एक का अभाव उसकी रचनाओं में नहीं है और अब हम आगामी पंक्तियों में इसी तथ्य की स्थापना करेंगे।

उपमा—माघ की उपमाएँ निःसन्देह सुन्दर और मनोहर हैं। वे कालिदास की उपमाओं से टक्कर लेने में पूर्णतः समर्थ हैं। माघ ने अपनी उपमाओं के चयन में प्रकृति से यथेष्ट सहायता ग्रहण की है उदाहरण के लिए निम्न चित्र देखा जा सकता है—

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥

अर्थात् 'चमकती हुई चंचल बिजली वाली, सघन बादलों से भरी, मेघराजि अपने उचित समय पर रैवतक पर्वत पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई जैसे चंचल नेत्रों वाली, पुष्टयौवनवती नायिका, अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्रतीक्षा की अधीरता में न डालती हुई, उसके पास अभिसरणार्थ उपस्थित होती है।' इसी प्रकार से कवि का अन्यत्र कथन है—

निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका।

अर्थात् पश्चिम दिशा अस्त होते हुए निस्तेज सूर्य को उसी तरह घर से निकाल देती है जैसे गणिका धनरहित व्यक्ति को।

अर्थ-गौरव—अर्थगौरव की दृष्टि से भी माघ भारवि से पीछे नहीं हैं। वस्तुतः उन्होंने अपना शिशुपालवध भारवि की कीर्ति को क्षीण करने के लिए ही लिखा था। फलतः माघ की कविता में भी उन समस्त विशेषताओं का समाहार हो गया है जो भारवि की कविताओं में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए भारवि के काव्य की तरह ही माघ का काव्य भी श्री शब्द से आरम्भ होता है—

भारवि— श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुक्त वेदितुम् ।
स: वर्णिलिंगी विदितः समाययौ, युधिष्ठिरं द्वैतवनै वनेचरः ॥
—किरा० १।१

माघ—श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तयम्बराद्धिरण्यगर्भांगभुवं मुनिं हरिः ॥
—शिशु० १।१

इसी प्रकार से यदि भारवि के काव्य का प्रत्येक सर्ग लक्ष्मी शब्द से समाप्त होता है तो माघ के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'श्री' शब्द का प्रयोग मिलता है। इतना ही नहीं यदि भारवि एक दो, तीन या चार अक्षरों की सहायता से सम्पूर्ण पद के प्रणयन में कुशल हैं तो माघ भी उनसे कम नहीं। दोनों के एक-एक चित्र देखिए, स्वतः ही स्पष्ट हो जाएगा—

भारवि— स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायः ।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन् ॥

माघ— राजराजी रुरोजाजे राजिरेऽजोऽजरोऽरजा ।
रेजारिजूजोर्जार्जी रराजर्जुर जर्जुरः ॥

भारवि के समान ही इन्होंने राजनीति और व्यवहार-कुशलता में भी दक्षता दिखलायी है।

पद-लालित्य—इस दिशा में भी माघ दण्डी के समकक्ष ही ठहरते हैं। संस्कृत कवियों में तो इनका पद-विन्यास और शैली अपना सानी नहीं रखती। समासांत पद-विन्यास इनकी शैली को गम्भीरता और उदारता प्रदान करता है। यद्यपि इनके पद-विन्यास में गौड़ी की विकटबन्धता है, किन्तु फिर भी उसमें एक आकषर्ण है। इसी आकर्षण के कारण अनेक परवर्ती कवियो यथा—रत्नाकर, हरिश्चन्द्र आदि ने इनकी शैली का अनुसरण किया है। इन काव्यों के अतिरिक्त नेमिचरित्, चन्द्रप्रभा चरित् जैसे अनेक जैन कवियों पर भी इनका प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि महाकवि माघ उपमा, अर्थ-गौरव और पद-लालित्य तीनों ही क्षेत्रों में कुशल हैं किन्तु इतना होने पर भी प्रायः सभी विद्वानों का यही विचार है कि प्रस्तुत उक्ति—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

इनके किसी पक्षपाती द्वारा लिखी गई है । इसका कारण यह है कि माघ के यहाँ उपरिकथित सभी गुण पर्याप्त मात्रा में होते हुए भी ऐसी अवस्था में नहीं हैं कि वे पृथक् रूप में किसी भी एक अर्थात् कालिदास, भारवि और दण्डी के समकक्ष ठहर सकें । उनकी उपमाएँ कठिन, गूढ़, अपूर्ण और लिङ्गादि में विषम हैं । उनमें कालिदास की उपमाओं की सी सरलता, रमणीयता, आकर्षकता और स्वाभाविकता नहीं है । इतना ही नहीं इनकी अधिकांश उपमाओं में न जीवन की छाप है न वे काव्य-गुण के उत्कर्ष को बढ़ाकर कथा को सुन्दर ही बनाती हैं । इसी प्रकार से अर्थ-गौरव और पदलालित्य के क्षेत्र में भी इन्हें वह सफलता प्राप्त नहीं है जो भारवि और दण्डी को । भारवि जहाँ अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का समावेश करते हैं वहाँ वे चरित्र-चित्रण, भव्य कल्पना और ओजस्विता आदि गुणों का भी पूर्ण ध्यान रखते हैं । किन्तु माघ के यहाँ ऐसी बात देखने को नहीं मिलती । फलतः इनका काव्य अनेक स्थलों पर सुरुचि विरुद्ध हो गया है । पदलालित्य के क्षेत्र में भी माघ कुशल नहीं कहे जा सकते । इनके पद अलंकृत, समासबहुल, विकट वर्णों से भरे हुए और ओजगुणमय हैं । चित्रालंकारों का खूब कौशल दिखलाया गया है जिससे काव्य में दुरूहता आ गई है और उसका सौंदर्य मन्द हो गया है ।

अन्ततः कहा जा सकता है कि 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' नाम्नी उक्ति इनके किसी पक्षपाती द्वारा लिखी गई प्रतीत होती है । उसमें पूर्ण सत्य नहीं । तीनों गुणों के होते हुए भी पृथक्-पृथक् गुणों में वे कालिदास, भारवि और दण्डी से टक्कर लेने में असमर्थ हैं ।

प्रश्न १८—महाकवि कालिदास के काव्य-कौशल पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए ।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि कालिदास का अन्यतम स्थान है । रस-प्रवणता, आलङ्कारिक अप्रस्तुत विधान; प्रकृति-वर्णन की बिम्बमत्ता, शैली की व्यञ्जनाप्रणाली; शब्दों की प्रसादमयता आदि सभी दृष्टिकोणों से कालिदास का काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है । अब हम इन्हीं विभिन्न दृष्टिकोणों से कालिदास के काव्य-साहित्य की समीक्षा करेंगे ।

कालिदास की कला रसवादी है । केवल रघुवंश ही एक ऐसा अपवाद है जिसमें संदेश का स्वर विद्यमान है अन्यथा किसी अन्य रचना में संदेश का लेश भी नहीं है । रसों के क्षेत्र में भी कालिदास की जितनी अभिरुचि कोमल रसों की ओर है उतनी गम्भीर रसों की ओर नहीं है । शृङ्गार एवं करुण रस की व्यञ्जना में कवि ने अपने कौशल का पूर्ण परिचय दिया है । कालिदास का शृङ्गार-वर्णन तो बहुत ही सरस बन पड़ा है । शृङ्गार-रस के संयोग तथा वियोग इन दोनों पक्षों का जितना सूक्ष्म तथा मार्मिक उद्घाटन कालिदास ने किया है उतना संभवतः विश्व के किसी अन्य कवि ने नहीं किया । कुमारसंभव के तृतीय सर्ग के वसंत-वर्णन में संयोग शृंगार के आलंबन तथा उद्दीपन पक्ष का वर्णन अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है । आलंबन पक्ष की दृष्टि से निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है, जिसमें फूलों से सजी हुई पार्वती का अत्यन्त सजीव वर्णन है —

अशोक निर्भर्त्सित पद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ।।
आवर्जिता किञ्चिदिवस्तनाभ्यां वासो वासना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ।।

अर्थात् 'पार्वती के द्वारा अशोक पुष्प के पहने हुए आभूषण पद्मराग मणि की सुन्दरता को लज्जित कर रहे थे, कर्णिकार पुष्प के आभूषण सुवर्ण की कांति का अपहरण कर रहे थे तथा निर्गुण्डी (सिन्दुवार) के पुष्प मोतियों की

लड़ी बने दिखाई देते थे । इस तरह के वसन्तपुष्पों के आभरण को धारण करती हुई, लाल रङ्ग के वस्त्र वाली पार्वती, जो स्तनों के भार से कुछ-कुछ झुकी सी दिखाई देती थी, (शिव के सामने आकर इस तरह खड़ी हो गई) जैसे घने फूलों के गुच्छे से झुकी हुई, कोमल किसलय वाली चलती-फिरती (संचारिणी) लता हो ।' (डॉ० भोलाशंकर व्यास)

वियोग शृंगारकी दृष्टिसे मेघदूत विशेषरूपेण अवलोकनीय है । यक्ष के द्वारा यक्षिणी के पास प्रेषित किया गया संदेश बहुत अधिक मार्मिक बन पड़ा है ।

करुण-रस की दृष्टि से भी कालिदास का साहित्य कम मार्मिक नहीं है । रघुवंश का अज-विलाप तथा कुमारसंभव का रति-विलाप करुण-रस के अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण हैं । पत्नी के वियोग के कारण अज की कैसी अवस्था हो गई है—

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥

अर्थात् 'अज अपना सहज धैर्य छोड़कर सिसकियों से अवरुद्ध हुई वाणी से फूट-फूटकर विलाप करने लगे । अधिक ताप से लोहा भी पिघल जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या ?' (चन्द्रशेखर पाण्डेय)

इसी प्रकार से पति के भस्मीभूत शरीर को देखकर रति द्वारा किये गये विलाप सम्बन्धी अवतरण को लिया जा सकता है—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
अहमेव दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ॥

अर्थात् 'हे वसन्त, तुम्हारे वे प्रिय सखा (कामदेव) हवा के झोंके से बुझे दीपक की भाँति, कभी न लौटने के लिए चले गए और देखो, मैं उस बुझे दीपक की काली बत्ती के समान असह्य शोकांधकार से आवृत बची हुई हूँ ।' (चन्द्रशेखर पाण्डेय)

केवल रस-प्रवणता ही नहीं अपितु प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी कालिदास का काव्य अत्यन्त रमणीय बन पड़ा है। उनके काव्य में प्रकृति-वर्णन मुख्यत: दो रूपों में उपलब्ध होता है—१. आलंबन रूप में २. उद्दीपन रूप में। कुमारसंभव के प्रथम सर्ग का हिमालय वर्णन प्रकृति के आलंबन रूप का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। कालिदास का उद्दीपन वाला प्रकृति वर्णन प्रसंग के अनुकूल सुख-दु:ख से युक्त दिखलाया गया है। रावण जिस मार्ग के द्वारा सीता को ले गया था, उस मार्ग को लता-गुल्म आदि अपनी शाखाओं तथा पल्लवों से सूचित करते हैं। हरिणियाँ दर्भांकुर चरना छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर दृष्टि करके वही कार्य करती हैं। कालिदास के प्रकृति-चित्रण का मूल्यांकन करते समय इस बात की ओर अनायास ध्यान चला जाता है कि उन्होंने प्राय: प्रकृति के भव्य, मनोरम तथा समुज्ज्वल रूप का ही अधिक वर्णन किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी कालिदास का काव्य अद्वितीय है। इन्दुमती सीता, पार्वती, यक्ष-पत्नी आदि विभिन्न पात्रों के चरित्र पाठक के अंतस्तल पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। इतना ही नहीं भारतीय साहित्य के इतिहास में भी ये पात्र सदा-सदा के लिए अमर हो गए हैं।

कालिदास की लोकप्रियता का मुख्य कारण उनकी प्रसादपूर्ण सरस पदावली है। उन्होंने अपने काव्य की रचना वैदर्भी रीति में की है। वैदर्भी रीति में माधुर्यगुण की प्रधानता होती है। दीर्घ समासों, ट, ठ आदि कठोर वर्णों का अभाव होता है तथा पंचम वर्ण से संयुक्त वर्णों का प्रयोग किया जाता है। इस शैली में ऐसी विशेषता होती है कि रचना पढ़ते समय पाठक का हृदय द्रवीभूत हो उठता है। इस शैली में काव्य-रचना करने वाले कवियों में कालिदास का अन्यतम स्थान है। इसीलिए तो कहा गया है—वैदर्भी-रीति सन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते। इतना ही नहीं दण्डी के विचारानुसार तो कालिदास ही इस शैली के उद्भावक हैं। उनका कथन है—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥

कालिदास की भाषा व्यंजना-प्रधान है। वे किसी भाव को स्पष्ट शब्दों न कह कर व्यंजना वृत्ति का आश्रय लेते हैं तथा उस भाव की ओर सूक्ष्म सूक्ष्म संकेत कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित ातरण को लिया जा सकता है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताड़िताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

प्रस्तुत अवतरण में कालिदास ने तपस्या करती हुई पार्वती की उस स्थिति ा चित्रण किया है जब वर्षा की बूंदें उसके सघन पक्ष्म वाले नेत्रों पर ार कर और कुछ देर रुक कर, ओष्ठों पर गिरते हुए, कठोर उरोजों पर ारने से चूर-चूर होकर, त्रिवली पर लुढ़कने के उपरांत नाभि के नयनाभराम प्रदेश में प्रवेश करती हैं। इस अवतरण में जहाँ एक ओर पार्वती की आसन की योगाभ्यास वाली स्थिति का चित्रण है वहाँ दूसरी ओर उसके ारीरिक अवयवों की सुन्दरता तथा सुडौलता की भी सुन्दर व्यंजना है।

कालिदास की रचनाओं में अलंकारों की छटा भी देखते ही बनती है। रघुवंश के नवम तथा अष्टादश सर्गों में यमक का मुक्त हस्त प्रयोग किया गया है, उपमा के वे आचार्य कहलाते हैं तथा 'मेघदूत' में सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण भरे पड़े हैं। अर्थांतरन्यास स्वभावोक्ति, अनुमान, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, दृष्टांत, तुल्ययोगिता आदि कुछ ऐसे अलंकार हैं जिनका प्रयोग उन्होंने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। कहीं-कहीं पर श्लेष अलंकार का प्रयोग भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है किंतु डा० कीथ का विचार है कि कालिदास ने श्लेष का प्रयोग ब्‌ुत अल्प मात्रा में किया है।

कालिदास छंदों के प्रयोग में भी अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। यदि मेघदूत में मन्दाक्रांता का सफल प्रयोग है तो ऋतुसंहार के इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, वसंततिलका, मालिनी नामक छन्द विशेषरूपेण ध्यातव्य हैं। कुमारसंभव तथा रघुवंश नाम्नी रचनाओं में, काव्यशास्त्र के नियमानुसार प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया है तथा सर्गांत में विभिन्न छन्दों का प्रयोग है।

इतने गुणों से सम्पन्न होने पर भी कालिदास की रचनाएं दोषों से मुक्त नहीं हैं। व्याकरण की अशुद्धि, च्युत-भंग, औचित्य भंग, रस-दोष आदि कुछ ऐसे ही दोष हैं जो उनके साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, किंतु 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' के अनुसार ये सभी दोष नगण्य तथा उपेक्षणीय हैं। वस्तुतः भाव-सौष्ठव, भाषा-लालित्य, अलंकारों की अपूर्वता, प्रसाद की प्रचुरता आदि गुणों ने कालिदास की कविता को विश्व-वन्दनीय बना दिया है। कालिदास के सम्बन्ध में किसी आलोचक का कथन है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

अर्थात् प्राचीन समय में कवियों की गिनती करने का प्रसंग आने पर कालिदास का नाम कनिष्ठिका अंगुली पर रखा गया। लेकिन कालिदास की समता करने वाले किसी अन्य कवि के उपलब्ध न हो सकने के फलस्वरूप दूसरी अंगुली पर किसी का नाम ही नहीं पड़ा, फलतः उस अंगुली का नाम अनामिका पड़ा। आज भी कालिदास की समता करने वाले किसी अन्य कवि के उपलब्ध न होने के कारण उस अंगुली का अनामिका नाम सर्वथा सिद्ध हो रहा है।

आनन्द वर्धनाचार्य ने कालिदास की प्रशंसा इन शब्दों में की है—

'अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्विजाः पंचषा महाकाव्य इति गण्यन्ते।'

अर्थात् इस जगतीतल में अनेक कवि उत्पन्न होते हैं किंतु उनमें से कालिदास के सदृश दो-तीन अथवा अधिक से अधिक पाँच-छः व्यक्तियों को ही महाकवि की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है।

पीयूषवर्षी जयदेव ने कालिदास को कविकुलगुरु कालिदास की उपाधि से विभूषित किया है तथा सोड्ढल ने उनकी प्रशंसा इन शब्दों में की है—

ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ॥

अर्थात् 'धन्य हैं वे कवि कालिदास जिनकी कीर्ति उनकी कविता के समान ही निर्दोष अमृततुल्य एवं मधुर है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्यवंश का पूरा वर्णन कर सकी वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुँची है।'

(चन्द्रशेखर पाण्डेय)

अन्ततः हम बाणभट्ट के स्वर में स्वर मिला कर कह सकते हैं—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते ॥

अर्थात् 'कविकुल शिरोमणि कालिदास की आम्र-मंजरी के सदृश सरस-मधुर सूक्तियों का श्रवण कर किसके अंतस्तल में आनन्द का उद्रेक नहीं होता ?'

प्रश्न १६—भारवि की काव्य-कला पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि भारवि का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनकी कीर्ति का एकमात्र आधार उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'किरातार्जुनीय' है। संस्कृत साहित्य की वृहत्-त्रयी—किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित् में इसका स्थान सर्वोपरि है। इतना ही नहीं सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के सदृश किसी अन्य ओजपूर्ण तथा उग्र-काव्य के दर्शन नहीं होते।

किरातार्जुनीय अलंकृत शैली का महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु का चयन महाभारत के वन-पर्व से किया गया है। १८ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में अर्जुन तथा किरातवेशधारी शिव का युद्ध-वर्णन है। काव्य-कौशल की दृष्टि से भी यह काव्य अत्यन्त रमणीक बन पड़ा है।

भारवि मूलतः वीर तथा श्रृंगार रस के कवि हैं। किरातार्जुनीय का दूसरा सर्ग भीम की वीर रसोचित दर्पोक्तियों से आपूर्ण है। भीम दुर्योधन की कृपा से राज्य प्राप्त करने का इच्छुक नहीं है। उसके विचारानुसार अपने तेज से समस्त जगतीतल को तुच्छ समझने वाला महान् व्यक्ति किसी दूसरे

व्यक्ति की कृपा से ऐश्वर्य उपलब्ध करना नहीं चाहता। शेर अपने हाथों द्वारा मारे हुए हाथी के द्वारा अपनी जीविका चलाता है—

मदासिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥

किरातार्जुनीय के अष्टम, नवम तथा दशम सर्ग में शृंगार रस के अनेक सरस और मधुर चित्र हैं। अप्सराओं का वन-विहार, पुष्पावचय, जल-क्रीड़ा, रतिकेलि आदि के वर्णन भारवि को प्रणय-कला-विशारद की उपाधि से विभूपित करने में अत्यन्त समर्थ हैं। यद्यपि भारवि के शृंगार-वर्णन हृदय को गुदगुदाने की शक्ति बहुत कम रखते हैं किन्तु नर्मसाचिव्य करने में पूर्णतः पटु हैं। डा० भोलाशंकर व्यास के मतानुसार 'भारवि के शृंगार वर्णन वासना और विलास वृत्ति को जितने उभारते हैं, उतने कालिदास के वर्णन नहीं।' अब हम भारवि के काव्य में से एक-दो उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग के निम्नलिखित श्लोक को देखिए—

विहस्य पाणौ विधृते घृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम्॥

अर्थात् 'जलविहार के अवसर पर किसी नायिका ने हाथ में जल लेकर नायक पर उछालना चाहा, इसे देखकर प्रिय ने हँस कर उसका हाथ पकड़ लिया। स्पर्श के कारण नायिका का मन कामासक्त हो गया, उसका नीवीवंधन शिथिल हो गया, किन्तु जल से सिमटी हुई करधनी ने उसके अंशुक को इस प्रकार रोक लिया, जैसे वह सखी के समान उपयुक्त अवसर पर नायिका की सहायता कर रही हो।'

इसी प्रकार से अष्टम सर्ग के चौदहवें श्लोक को लिया जा सकता है जिसमें ऐसी मुग्धा नायिका का चित्र प्रस्तुत किया गया है। पुष्प तोड कर नायिका को देते समय नायक के मुख से गलती से किसी दूसरी नायिका का नाम निकल जाता है, वह उसे गलत नाम से संबोधित कर देता है। नायिका यह अनुमान लगा लेती है कि वह नायक की कनिष्ठा प्रिया है। बस फिर

गया है वह मान करने बैठ जाती है । उसके मान करने का ढंग भी एकदम निराला है। नायिका नायक से कुछ नहीं कहती अपितु रिक्त-नेत्रों में अश्रु-जल भर कर पैर से जमीन खुरचने लग जाती है—

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥

प्रकृति-वर्णन में भारवि की रुचि उतनी नहीं है जितनी वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति की । फिर भी भारवि के यहाँ प्रकृति के आलंबन, उद्दीपन तथा अलंकरण रूप के अनेक सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं। किरातार्जुनीय के चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में आलम्बन रूप के अनेक सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं। चतुर्थ सर्ग के शरद् वर्णन के कुछ चित्र तो निश्चित रूप से अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन देखने वालों के लिए किरातार्जुनीय का नवम सर्ग अत्यत महत्त्वपूर्ण है। अप्सराविहार में सूर्यास्त-वर्णन, रात्रिवर्णन, प्रभातवर्णन निश्चित रूप से शृंगार के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत समाविष्ट होंगे। प्रकृति के अलंकृत वर्णन छाँटने के लिए भारवि के यहाँ किसी स्थल विशेष को चुनने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। चतुर्थ सर्ग के लगभग सभी वर्णन अलंकृत हैं। केवल दो-तीन पद्य जिनमें गायों का वर्णन है, अपवाद कहे जा सकते हैं। इस संबन्ध में डा० भोलाशंकर व्यास का यह कथन विशेषरूपेण ध्यातव्य है, "कालिदास की भारती सदा अनलंकृत रमणीयता लेकर आती है, पर प्रकृति में दिल को न रमाने वाले भारवि या माघ यमक के फेर में पड़ जाते हैं।"

वस्तुतः भारवि की काव्य-कला की प्रसिद्धि का आधार भाव-पक्ष न होकर, कलापक्ष है। वे तो अल्प शब्दों में ही विपुल अर्थ के समावेश के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध ही है—'भारवेरर्थ-गौरवम्'। इनकी इसी विशेषता को दृष्टि-पथ में रखते हुए कृष्ण कवि ने लिखा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना ।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥

इतना ही नहीं भारवि स्वयं काव्य में कलापक्ष को अधिक महत्ता देने के पक्षपाती हैं। उनका कथन है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

अर्थात् 'काव्य में पदप्रयोग की दृष्टि से अस्पष्टता न हो, अर्थगांभीर्य पर विशेषरूप से ध्यान दिया जाए, वाणी के अर्थ में पुनरुक्ति न हो तथा अर्थ-सामर्थ्य को कुचला न जाए।'

यह पहले कहा जा चुका है कि भारवि कलापक्ष के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें श्लेष अलंकार अधिक प्रिय है। यह बात दूसरी है कि उनके यहाँ माघ की भाँति शुद्ध श्लेष है। (अर्थश्लेष) के दर्शन नहीं होते। वह किसी न किसी अर्थालंकार का अंग बनकर ही प्रयुक्त हुआ है। भारवि को यमक अलंकार भी बहुत अधिक प्रिय है। किरातार्जुनीय के पंचम सर्ग में तो कवि यमक के फेर में इतना फँस गया है कि उस सर्ग का प्रत्येक दूसरा पद्य यमक का है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि कुछ ऐसे अन्य अलंकार हैं जिनका सफल प्रयोग भारवि के यहाँ दृष्टिगत होता है।

छन्दों के प्रयोग में भी भारवि अत्यन्त कुशल हैं। वंशस्थ उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द है। इन्द्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, द्रुतविलंबित, चद्रिका, मत्तमयूर आदि अन्य छन्दों का भी उन्होंने अत्यन्त सफल प्रयोग किया है।

शैली की दृष्टि से भारवि के काव्य में कालिदास के समान प्रसाद गुण नहीं मिलता यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने माघ की भाँति विकट-समासान्त-पदावली का आश्रय नहीं लिया है किन्तु उनमें कालिदास जैसी वैदर्भी का भी प्रयोग नहीं है। उन्होंने कूट काव्यों में जिस शैली का आश्रय लिया है वह निस्संदेह किसी भी सहृदय व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायः।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥

अर्थात् 'खड्ग (सासिः) बाण (सासुसूः) तथा धनुष (सासः) से युक्त होकर, यानसाध्य तथा अयानसाध्य लाभादि को प्राप्त करने वाले, शोभा-सम्पन्न (ललः) निश्चल प्रकृति वाले (अलोल.) अर्जुन ने, जिसने चंद्रमा के स्वामी (शिव) के पुत्र (कार्तिकेय) को हरा दिया था (शशीशशिशुशीः), (खरगोश की सी) प्लुतगति से युक्त होकर (तेजी से फुदक कर), अपूर्व शोभा को प्राप्त किया। (व्यास)

उपर्युक्त अवतरण में प्रत्येक पद में एक ही व्यञ्जन ध्वनि अवश्य पाई जाती है और बहुत संभव है कि यह शैली बौद्धिक व्यायाम करने वाले व्यक्तियों को बहुत अधिक प्रिय लगे किन्तु निश्चित रूप से किसी सहृदय व्यक्ति का मन इस प्रकार के प्रयोग से प्रभावित नहीं हो सकता। सबसे मजेदार बात यह है कि इस प्रकार के पद प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। भारवि के इसी प्रकार के पद्यों को देखकर एक आलोचक ने यहां तक कह डाला है, "कालिदास की कविता में द्राक्षापाक है, अगूर के दाने की तरह मुंह में रखते ही रस की पिचकारी छूट पड़ती है, जबकि भारवि के काव्य में नारिकेलपाक है, जहाँ नारियल को तोड़ने की सख्त मेहनत के बाद उसका रस हाथ आता है, और कभी-कभी तो उसे तोड़ते समय इधर-उधर जमीन पर बह भी जाता है, और उसमें से बहुत थोड़ा बचा-खुचा सहृदय की रसना का आस्वाद्य बनता है।"

भारवि की पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रति भी बहुत अधिक अनुरक्ति है। अपने व्याकरण-ज्ञान का प्रदर्शन तो वे स्थान-स्थान पर करते हुए दिखलाई देते हैं। उन्होंने 'तन्' धातु का प्रयोग प्रभूतमात्रा में किया है, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के प्रयोग उन्हें बहुत प्रिय हैं, अतीत की घटना का वर्णन करने के लिए वे परोक्षभूते लिट् का प्रयोग करते हैं तथा अपरोक्षभूत के लिए लङ् तथा लुङ् का प्रयोग किया गया है। किन्तु कहीं-कहीं पर व्याकरण की त्रुटियाँ बहुत खटकती हैं। 'आजघ्ने' का आत्मनेपदी प्रयोग एक ऐसा ही उदाहरण है।

अन्ततः हम डा० डे के शब्दों में कह सकते हैं, "भारवि की कला प्रायः अत्यधिक अलंकृत नहीं है, किन्तु आकृति सौष्ठव की नियमितता व्यक्त करती है। शैली की दुष्प्राप्य कांति भारवि में सर्वथा नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा, किन्तु भारवि उसकी व्यञ्जना अधिक नहीं कराते। भारवि का अर्थगौरव, जिसके लिए विद्वानों ने उनकी अत्यधिक प्रशंसा की है उनकी गम्भीर अभिव्यञ्जना शैली का फल है, किन्तु यह अर्थगौरव एक साथ भारवि की शक्ति तथा दुर्बलता दोनों को व्यक्त करता है। भारवि की अभिव्यञ्जना शैली का परिपाक अपनी उदात्त स्निग्धता के कारण सुन्दर लगता है, उसमें शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है, किन्तु महान् कविता की उस शक्ति की कमी है, जो भावों की स्फूर्ति तथा हृदय को उठाने की उच्चतम क्षमता रखती है।

प्रश्न २०—महाकवि माघ के काव्य-कौशल पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि माघ का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिशुपाल-वध' की गणना वृहत्त्रयी में की जाती है। काव्य-कौशल की दृष्टि से भी उनका काव्य अत्यन्त रमणीय बन पड़ा है। इस सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

इस अवतरण में कालिदास को उपमाओं का, भारवि को अर्थगौरव का और दण्डी को पदलालित्य का आचार्य बतलाया गया है। अन्ततः माघ को इन तीनों ही गुणों का आचार्य बतलाया गया है।

माघ की समस्त ख्याति उनके प्रसिद्ध ग्रंथ शिशुपाल-वध पर अवलम्बित है। २० सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में भगवान कृष्ण का चरित् वर्णित है। यद्यपि 'शिशुपाल-वध' एक प्रबंध काव्य है किंतु माघ इतिवृत्त के निर्वाह में सफल नहीं हो सके हैं। शिशुपाल-वध की मूल कथा पहले-दूसरे तथा

चौदहवें से बीसवें सर्ग तक पाई जाती है। इन सर्गों में भी अप्रासंगिक वर्णनों की कमी नहीं है किंतु चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का विस्तृत वर्णन सम्पूर्ण कथा में अपना मेल नहीं बिठा पाता। इस सम्बन्ध में डा० भोलाशंकर व्यास का यह कथन विशेषरूपेण ध्यातव्य है, "शिशुपाल-वध के वीर-रसपूर्ण इतिवृत्त में अप्रासंगिक शृंगार लीलाओं का पूरे छः सर्ग में विस्तार से वर्णन ऐसा लगता है, जैसे किसी पुरानी सूती रजाई के बीचों-बीच बड़ी-सी रेशम की बढ़िया थिकली लगा दी है। × × × थिकली ने रजाई की सुन्दरता तो बढ़ा दी है, पर स्वयं की सुन्दरता कम कर दी है।"

रस-योजना की दृष्टि से माघ के काव्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उसका अंगी रस वीर है तथा शृंगार रस सहकारी बन कर आया है। लेकिन शृंगार रस ने वीर रस को इतना दबोच लिया है कि चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक के अनुशीलन के समय पाठक यही समझने लगता है कि काव्य का अंगी रस शृंगार है। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य के अंगी रस—वीर रस—की चर्वणा में शृंगार रस बहुत सीमा तक बाधक सिद्ध हुआ है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि माघ वीर रस की अभिव्यंजना में असफल रहे हैं। वस्तुतः माघ वीर तथा शृंगार दोनों ही रसों के सफल चितेरे हैं। वीर रस की दृष्टि से शिशुपाल वध का १८वाँ सर्ग विशेषरूपेण दृष्टव्य है। सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियों के चिघाड़ने तथा योद्धाओं के द्वन्द्व युद्ध में पिल पड़ने के अनेक सजीव चित्र इस सर्ग में देखने को मिलते हैं। इस सर्ग के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी वीर रस के अनेक प्रभावोत्पादक स्थल हैं। लेकिन माघ का मन वीर के चित्रण में उतना नहीं रमा जितना शृंगार रस के वर्णन में। माघ ने शृंगार वर्णन के अनेक सरस चित्र प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोन्यः।
प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदासदोर्न्याम्॥

इस अवतरण में कोई मुग्धा नायिका किसी ऊँचे वृक्ष पर खिले हुए पुष्पों की माँग कर रही है। नायक भी उसका आलिंगन करना चाहता है। बस, फिर क्या है, उसे एक बहाना मिल जाता है। वह पुष्ट कुचों से युक्त नायिका को अपने दोनों हाथों में उठाकर कहता है, 'अच्छा तुम्हीं तोड़ लो।'

इसी प्रकार से ग्यारहवें सर्ग का तेरहवाँ श्लोक भी कवि की शृंगारिक प्रवृत्ति का बोध कराने में पर्याप्त समर्थ है। प्रातःकाल हो गया है। रात्रि केलि के कारण थककर सुख की नींद सोये हुए दम्पतियों में नायिकाएँ पहले जाग गई हैं, लेकिन फिर भी वे अपने शरीर को इसलिए नहीं हिलाती-डुलातीं कि कहीं उनके हाथ के हटा लेने से उनके प्रिय की निद्रा भंग न हो जाए। शायद वे स्वयं भी आश्लेपजनित सुख का भंग नहीं चाहतीं—

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलित गात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुज चक्राश्लेपभेदं तरुण्यः॥

माघ के शृंगार-वर्णन का मूल्यांकन करने पर जिस महत्वपूर्ण तथ्य की उपलब्धि होती है वह यह है कि उनका शृंगार वर्णन क्षण भर के लिए उत्तेजना भले ही उत्पन्न कर दे किंतु वह शाश्वत प्रभाव डालने में समर्थ नहीं है। अनेक स्थलों पर वे आवश्यकता से अधिक वाच्य प्रणाली का आश्रय लेते हैं जिसके फलस्वरूप उनके वर्णन अश्लीलता का रूप धारण कर लेते हैं।

प्रकृति-पर्यवेक्षण शक्ति की दृष्टि से भी माघ का काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उन्होंने प्रकृति का चित्रण तीन रूपों—आलंबन, उद्दीपन, अलंकरण—में ही किया है। प्रकृति का आलंबनात्मक रूप में चित्रण अन्य दोनों रूपों की अपेक्षा कम मात्रा में हुआ है। किंतु फिर भी षष्ठ सर्ग में प्रकृति वर्णन के अनेक सरस एवं स्वाभाविक अवतरण उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः माघ के यहाँ तो प्रकृति के उद्दीपनात्मक और अलकरण चित्रों की ही प्रधानता है। नवम सर्ग का सूर्यास्त वर्णन तथा एकादश सर्ग का प्रभात वर्णन अप्रस्तुत विधान से पूर्णतः वोझिल है।

सम्वाद-कला की दृष्टि से भी माघ की रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण देखिए—

अनृता गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यते ।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतः तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता ।।

अर्थात् "डंके की चोट से संसार में घोषणा की जाती है कि तुम असत्य-भाषण नहीं करते, किन्तु इस निन्दनीय कृष्ण की पूजा कर तुम अपने असत्याचरण का खुला विज्ञापन कर रहे हो।"

उपर्युक्त उद्धरण में शिशुपाल ने युधिष्ठिर के प्रति अपना क्रोध प्रदर्शित किया है जिसका कारण यह है कि उसने श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम सम्मानित किया है। शिशुपाल के इस कथन में कटुता तथा ओजस्विता विशेषरूपेण दर्शनीय है।

माघ कलावादी कवि हैं। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ कवि वही हैं जो शब्द और अर्थ दोनों के सौन्दर्य पर ध्यान देते हैं। यही कारण है कि उनके काव्य का कला-पक्ष भी बहुत उच्चकोटि का बन पड़ा है। अलंकारों की रमणीयता, छन्दों की विविधता, शैली की गम्भीरता और उदात्तता आदि सभी दृष्टि-कोणों से माघ एक श्रेष्ठ कवि प्रतीत होते हैं। माघ के यहाँ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों के सफल प्रयोग देखने को मिलते हैं। अनुप्रास-योजना की दृष्टि से उनका पद-विन्यास अत्यन्त सुन्दर है। इस सम्बन्ध में उनका निम्न-लिखित उदाहरण तो विशेषरूप से प्रसिद्ध है—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुच्यते ।।

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, तुल्ययोगिता, समासोक्ति, काव्यलिङ्ग, विरोध आदि कुछ अन्य ऐसे अलङ्कार हैं जो भारवि को बहुत प्रिय हैं।

छन्दों की दृष्टि से भी भारवि के काव्य में विविधता के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से तो माघ, भारवि और कालिदास से भी अधिक कलावादी हैं। कालिदास के प्रिय छन्दों की संख्या जहाँ ६ तथा भारवि के प्रिय छन्दों की संख्या १२ है वहाँ माघ के प्रिय छन्द १६ हैं। 'शिशुपाल वध' के चतुर्थ सर्ग में तो माघ ने अनेक का प्रयोग किया है।

शैली की दृष्टि से भी माघ संस्कृत के कवियों में अपना सानी नहीं रखते। उनका सम्पूर्ण काव्य प्रौढ़ तथा उदात्त शैली से आपूर्ण है। उनके काव्य का कोई भी सर्ग ऐसा नहीं है जिससे शैली की असाधारणता न झलकती हो। उनके काव्य की शैली गौड़ी है किन्तु गौड़ी की विकटबन्धता होते हुए भी उसमें एक ऐसा आकर्षण है जो कालिदास की सरल, स्वाभाविक और कोमल शैली से टक्कर लेने में पूर्णतः समर्थ है। यह बात दूसरी है कि जहाँ कालिदास की शैली मालव की समतल भूमियों की याद दिलाती है वहाँ माघ की शैली अमरावती पर्वतमाला की याद दिलाती है।

माघ के काव्य का अनुशीलन करने के उपरान्त यह सहजरूपेण कहा जा सकता है कि उनकी कविता पर कालिदास, भारवि तथा भट्टि का पर्याप्त प्रभाव है। कालिदास की वर्णन-शैली का माघ की काव्य-शैली पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। शिशुपाल-वध के एकादश तथा त्रयोदश सर्ग पर निश्चित रूप से कालिदास की वर्णन-शैली का प्रभाव है। इसी प्रकार से शिशुपाल-वध के कथानक को किरातार्जुनीय के कथानक का प्रतिरूप माना जा सकता है। यदि अन्तर है तो केवल इतना कि यदि भारवि ने शिव-भक्त होने के कारण महाभारत से शिव-सम्बन्धी कथानक का चयन किया है तो माघ ने विष्णु-भक्त होने के कारण कृष्ण सम्बन्धी कथानक का चयन किया है। कथावस्तु की सजावट, सर्गों के विभाजन तथा प्रतिपाद्य विषय की प्रस्थापना में माघ भारवि का अनुसरण करते हुए दिखलाई देते हैं। माघ का काव्य भारवि के काव्य के समान 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। इसी प्रकार से जहाँ भारवि के काव्य का प्रयेत्क सर्ग लक्ष्मी शब्द से समाप्त होता है वहां माघ के प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्री शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भारवि के अतिरिक्त माघ भट्टि के भी ऋणी हैं। माघ पर भट्टि का प्रभाव व्याकरण के क्षेत्र में पड़ा है। माघ को सामान्यभूते लुङ्, यङ्लुङन्त क्रियापद एवं पाणिनिसम्मत प्रयोगों के प्रति जो मोह है वह निश्चितरूप से भट्टि के प्रभाव के कारण ही है। अन्त में हम डा० भोलाशङ्कर व्यास के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकते हैं कि "महाकवि

कालिदास से भावतरलता, भारवि से कला-प्रवीणता तथा भट्टि से व्याकरण का पाण्डित्य तीनों का विचित्र समन्वय लेकर माघ की कविता उपस्थित होती है। माघ भारवि से भी अधिक कलाबाज हैं, तथा भट्टि से किसी कदर कम पण्डित (वैयाकरण) नहीं; किन्तु जितने वे कलावाज और पण्डित हैं, ठीक उसी अनुपात में कालिदास की भावतरलता से रहित हैं। भारवि और भट्टि से निस्सन्देह माघ में भाव-पक्ष का पलड़ा भारी है, पर कालिदास के आगे माघ का हृदय-पक्ष नीचा दिखाई देता है। फिर भी भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष में माघ का स्थान निश्चित है। माघ ने भारवि की कला को और अधिक अलंकृत तथा प्रौढ़रूप में रखा है। श्रीहर्ष जैसी कोरी दूर की कौड़ी माघ में कम मिलती है। श्रीहर्ष में पदलालित्य की कमी नहीं, वैसे माघ का पदलालित्य वैदर्भी या पांचाली रीति वाला पदलालित्य न होकर प्रायः गौड़ी वाले विकटवन्ध या गाढ़वन्ध का पदलालित्य है।"



: ५ :

रूपक

प्रश्न २१—संस्कृत रूपक के उद्भव के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए अपने मत की प्रस्थापना कीजिए।

संस्कृत का रूपक साहित्य अपने आप में अत्यन्त विशाल है। काव्यकला की दृष्टि से भी उसमें पर्याप्त सौंदर्य है किन्तु इतना होने पर भी उसके उद्भव का प्रश्न अन्धकार से परिपूर्ण है। विभिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। आगामी पंक्तियों में हम उन सभी पर विचार करते हुए उनके औचित्य-अनौचित्य पर विचार प्रगट करेंगे और अन्ततः अपने मत की स्थापना भी। अस्तु !

दैविक उत्पत्ति—भारत की धर्म-प्राण जनता प्रत्येक वस्तु का नियामक ईश्वर को मानती है। नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में भी भारतीय जनता का यही विचार है। उसके अनुसार त्रेता युग के देव और दानव मिल कर ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि भगवान् हमें मनोविनोद के लिए कोई वस्तु प्रदान कीजिए। ब्रह्मा ने यह बात सुन कर नाट्यवेद प्रकट किया। इसके लिए उन्हें चारों वेदों से सहायता ग्रहण करनी पड़ी। ऋग्वेद से नृत्य, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यकला की सृष्टि की गई। शिवजी ने ताण्डव नृत्य, पार्वती जी ने लास्य नृत्य तथा विष्णु ने चार वृत्तियों का समावेश करके इसमें कलात्मकता का समावेश किया। इतना ही नहीं स्वर्गलोक के निर्माण कार्य कुशल विश्वकर्मा ने रङ्गशाला का निर्माण किया। इस प्रकार से नाटक खेले जाने लगे। लेकिन यह मत अपने आप में एकांगी है। संस्कृत रूपक के उद्भव में मूलतः ब्रह्मा का ही हाथ रहा हो ऐसी बात नहीं मानी जा सकती।

मृतकपूजावाद—डा० रिजवे के अनुसार नाटक का उद्‌भव मृतात्माओं के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा से हुआ है। प्रायः विश्व के सभी प्राचीन देशों में मृतात्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत और अभिनय आदि हुआ करते थे जिनका रूप हमें राम और कृष्ण आदि महापुरुषों के रूपक में अब भी मिलता है। अतः मृतकपूजा के कारण ही धीरे-धीरे नृत्य, गान तथा अभिनय होने लगे और नाटकों का प्रणयन आरम्भ हो गया। किन्तु डा० रिजवे का यह मत आज अधिकारी विद्वानों के द्वारा मान्य नहीं है क्योंकि राम और कृष्ण आदि की पूजा के पीछे मृत वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखाने की भावना नहीं है। हम राम और कृष्ण की पूजा इसलिए करते हैं कि भगवान् के चरित् का स्मरण और श्रवण करके हमें सुख-शांति और मुक्ति मिले। इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्रायः शृङ्गारपरक नाटकों और प्रहसनों में वीरता या पराक्रम का प्रत्यक्षतः अभाव ही होता है। यदि वहाँ वीरता का उल्लेख भी होता है तो वह केवल नायिका के लिए नायक की योग्यता सिद्ध कर देने के लिए। इतना ही नहीं संस्कृत रूपकों के प्रारम्भ में जहाँ रचना और रचयिता का परिचय दिया जाता है वहाँ अवसर का भी परिचय दिया जाता है किन्तु किसी भी नाटक की प्रस्तावना में यह नहीं कहा गया कि भगवान् राम की स्मृति स्थायी करने के लिए या कृष्ण जी का आदर करने के लिए नाटक की रचना हो रही है।

पर्ववाद—इस मत के अनुसार नाटक का उद्‌भव इन्द्रध्वज पर्व और मेपोल दिवसों पर होने वाले नृत्यों से हुआ है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि पाश्चात्य देशों में मई मास अर्थात् वसंत ऋतु में मे-पोल दिवस बड़े आनन्द से मनाया जाता है। इस उत्सव में वे प्रसन्नतापूर्वक नाचते कूदते हैं। इतना ही नहीं वे एक लम्बा बांस गाड़ कर उसके नीचे एकत्रित होते हैं और साथ मिलकर नृत्य करते हैं। भारतवर्ष में भी इन्द्रध्वज नामक उत्सव लगभग इसी प्रकार से मनाया जाता था। अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नाटकों की उत्पत्ति वसंत में मनाए जाने वाले पर्वों के आधार पर हुई होगी। लेकिन विद्वानों द्वारा प्रतिष्ठापित यह मत निर्भ्रांत नहीं है।

इसका कारण यह है कि विद्वानों ने मे-पोल उत्सव और इन्द्रध्वज पर्व का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए इस बात का ध्यान नहीं रक्खा है कि मे-पोल पर्व तो बसंत ऋतु में होता है किन्तु इन्द्रध्वज पर्व, जो इन्द्र की वृत्ति (मेघ) विजय का सूचक है, वर्षा के अन्त में पड़ता है।

कृष्णोपासनावाद—इस वाद में नाटक का उद्भव कृष्ण की उपासना के साथ जोड़ा जाता है। वस्तुतः कृष्णोपासना के अनेक अङ्ग यथा रथयात्रायें, नृत्य, वाद्य, गीत, लीलाएँ आदि संस्कृत नाटक के निर्माण में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं। इतना ही नहीं संस्कृत नाटक का विकास भी कृष्णोपासना के घर शूरसेन प्रदेश में हुआ। संस्कृत नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की बहुलता भी यही सूचित करती है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। इस मत में सबसे बड़ी त्रुटि तो यही है कि अभी तक ऐसे प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि कृष्ण सम्बन्धी नाटक ही सबसे प्राचीन हैं। मत में दूसरा दोष यह है कि राम, शिव आदि अन्य प्रसिद्ध देवताओं की उपासनाओं ने भारतीय नाटक के विकास में जो भाग लिया उसकी उपेक्षा की गई है।

पुत्तलिका-नृत्यवाद—प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डा० पिशल के विचारानुसार संस्कृत रूपक का उद्भव कठपुलियों के नृत्य से हुआ। रूपकों में प्रयुक्त होने वाले सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्द भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। लेकिन डा० पिशल का यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। प्रो० हिलब्रैंट के मतानुसार कठपुतलियों के नाच के इतिहास को दृष्टि में रखकर यह मानना पड़ता है कि रूपक का उद्भव इससे पहले ही हो चुका था जो इस नृत्य का आधार था।

छायानाटकवाद—प्रो० लूडर्स के मतानुसार संस्कृत रूपक के उद्भव में छाया-नाटकों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उनका कथन है कि महाभाष्य में वर्णित शौभिक मूक अभिनेताओं या छाया मूर्तियों की चेष्टाओं के व्याख्याता थे। लेकिन डा० कीथ के मतानुसार ल्यूडर्ज महोदय का यह विचार महाभाष्य के वाक्य के अशुद्ध अर्थ पर ही आधृत है। इतना ही नहीं इस वाद में एक

सबसे बड़ी त्रुटि यह भी है कि इसके आधार पर रूपकों के गद्य-पद्य के मिश्रण तथा संस्कृत-प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता। दूसरे अन्य वादों की भाँति इस वाद के मानने वाले को भी रूपकों की सत्ता छाया-नाटक के जन्म से पहले स्वीकार करनी पड़ती है।

लोकप्रियस्वांगवाद—प्रो० हिलब्रैंट तथा स्टेनकोनो के विचारानुसार प्राचीन भारत में लोकप्रिय स्वांगों का प्रचार था और इन स्वांगों में रामायण और महाभारत के कथानक मिला कर रूपक का रूप दे दिया गया। लेकिन डा० कीथ ने इस मत का खण्डन किया है। उनका कथन है कि रूपक के प्रचार से पूर्व स्वांगों के प्रचलित होने के प्रबल एवं उचित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। इतना ही नहीं स्टेनकोनो ने स्वांगों का परामर्श कराने वाले जितने लेख प्रस्तुत किये हैं वे सबके सब महाभाष्य के अथवा उससे भी परवर्ती काल के हैं। वस्तुतः प्रारम्भिक स्वांग काल के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण तथा कल्पना पर आधृत है। इस प्रकार से स्टेनकोनो का मत अपने आप में निराधार है।

वैदिकानुष्ठानवाद—ऋग्वेद के मरुत सूक्त के मंत्र की व्याख्या करते हुए जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने संवत् १९२६ में यह प्रतिपादित किया कि संस्कृत रूपक की उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्ड से हुई है। फ्रांसीसी विद्वान सिल्वन लेवी ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा कि वैदिक साहित्य में बहुत से ऐसे संवाद हैं जिन्हें भारतीय रूपक का मूल स्रोत समझना चाहिए। उनको यह भी मत था कि ये संवाद केवल कवियों या ऋषियों की कल्पना मात्र नहीं अपितु ये संवाद यज्ञों में नाटकीय ढंग से गाये भी जाते होंगे। इसी सिद्धांत का समर्थन जर्मन विद्वान वॉन श्राडर और हर्टल ने भी किया था। श्राडर महोदय ने तो यह भी कहा है कि बहुत से ब्राह्मण जलाशय में खड़े होकर सूक्तों को गाते भी होंगे। अतः वैदिक संवादों में नाट्य का बीज अवश्य है।

लेकिन इस सिद्धांत में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। कतिपय पाश्चात्य विद्वान इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि इन संवादों को नाटकीय

संवाद समझने की भूल नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्राचीन भारतीय यज्ञों में जो कर्म-काण्ड होते थे वे नाटकीय नहीं अपितु वैसे ही पौरोहित्य कर्म मात्र होते थे जैसे ईसाई गिरजाघरों में प्रायः हुआ करते हैं जहाँ पादरी कहते हैं—"अपने हृदय ऊपर उठाओ" और एकत्रित जनसमूह उत्तर देता है—"हम अपने हृदय भगवान तक उठाते हैं।" अनुकरण की भावना का प्रभाव होने के कारण ये संवाद नाटकीय नहीं हैं। कर्मकाण्ड और नाटक के इस मौलिक अन्तर को न समझ कर ही ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त को नाटकीय बतलाया गया है।

संवादसूक्तवाद—वेदों में यम-यमी संवाद आदि के रूप में अनेक आख्यान पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इन आख्यानात्मक संवादों के द्वारा ही संस्कृत रूपक का उद्भव हुआ है। किन्तु यह सत्य होने पर भी कि ऋग्वेद में बहुत से ऐसे सूक्त हैं जिनमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों की परस्पर बात-चीत होती है इस मत को ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि आख्यानों में इस प्रकार का प्रयोग स्वाभाविकता लाने के लिए किया जाता है किन्तु इन संवादों में और नाटकीय संवादों में मौलिक अन्तर होता है। नाटकीय सम्वादों में जहाँ वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा कथोपकथन को भावपूर्ण बना कर रस उत्पन्न करने का उपक्रम किया जाता है वहाँ कथा के सम्वादों में केवल किसी प्रसङ्ग में मिले हुए दो व्यक्तियों के मन की व्यंजना के रूप में ही बातचीत चलाई जाती है। इतना ही नहीं इनमें न तो नाटकीय सम्वाद वाला जोड़-तोड़ का उत्तर ही होता है और न ही भावों को उत्तेजित करने वाली भाषा शैली ही।

रूपक का यूनानी उद्भव—वेबर और विंडिश आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा के अनुसार संस्कृत रूपकों की उत्पत्ति यूनानी रूपकों के प्रभाव स्वरूप हुई। इनके मतानुसार सिकन्दर महान् के आक्रमण के उपरान्त कुछ यूनानी लोग भारतीय समुद्र तट पर निवास करने लगे थे। ये यूनानी फुर्सत के समय आमोद-प्रमोद के लिए जिन उपकरणों को जुटाते थे उनमें से नाटक

भी एक था। उनके इस नाटक का भारतीयों पर उसी प्रकार प्रभाव पड़ा होगा जिस प्रकार से उनकी ज्योतिष और गणित विद्या का पड़ा है। इन्होंने (वेवर विंडिश आदि ने) पुनः कल्पना की है कि यूनानी राजाओं ने अपनी राजसभाओं में यूनानी नाटकों का अभिनय कराया होगा, उन्हीं का अनुकरण करके भारतीयों ने रूपकों की उत्पत्ति की होगी। अपनी इस कल्पना को उचित बतलाते हुए इन्होंने कहा है कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होने वाला यवनिका या जवनिका शब्द भी इस बात का सूचक है कि संस्कृत नाटक पर यूनानी रूपकों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है क्योंकि यह शब्द यवन-यूनानी पद से व्युत्पन्न हुआ है।

लेकिन विद्वानों के उपर्युक्त विचार वास्तविकता से नितान्त परे हैं क्योंकि सर्वप्रथम तो इस बात का उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि ग्रीक रूपक भारतवर्ष में अभिनीत किए गए। द्वितीय सर्वप्रथम संस्कृत रूपक का प्रणयन सिकन्दर महान् के आक्रमण से बहुत पहले हो चुका था। क्योंकि सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण ३२६ ई० पूर्व में किया था किन्तु पाणिनि जिनका समय ४८० ई० पूर्व है ने अपने 'पाराशार्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' नामक सूत्र में 'पटसूत्र' अर्थात् नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय या उससे पूर्व ही नाटक रचे जा चुके होंगे क्योंकि लक्षण-ग्रन्थों की रचना लक्ष्य ग्रन्थों के बाद ही हुआ करती है। इतना ही नहीं पतंजलि के महाभाष्य में 'कंस-वध' और 'बलि-वध' नामक दो रूपकों का स्पष्ट उल्लेख भी है। इसी प्रकार से यवनिका शब्द का प्रयोग भी इस बात का सूचक नहीं ठहराया जा सकता कि संस्कृत रूपकों का उद्भव ग्रीक रूपकों के प्रभाव-स्वरूप हुआ है क्योंकि संस्कृत रूपकों में यवनिका शब्द का प्रयोग केवल इस लिए होता था क्योंकि यवन-देश से आए कपड़ों से परदे बनाए जाते थे। इतना ही नहीं अन्तरात्मा, कथावस्तु-क्रम तथा निर्माण-सिद्धान्त की दृष्टि से भी संस्कृत और यूनानी रूपक एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत दिशा में चलते हैं।

उपर्युक्त मतों के अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि संस्कृत रूपक के उद्भव के सम्बन्ध में किसी एक मत अथवा वाद

विशेष को ही मुख्यता प्रदान नही की जा सकती है। उसके विकास में तो सभी तत्व सहायक रहे हैं, वैदिक सूत्रों में पाए जाने वाले सम्वादों से लेकर ग्रामोत्सव, छाया नाटकों तथा कठपुतलियों के नृत्य सभी ने समय-समय अपना योग दिया है।

प्रश्न २२—प्रमुख-प्रमुख संस्कृत नाटककारों का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—

भास, शूद्रक, कालिदास, अश्वघोष, हर्ष, भवभूति, विशाखदत्त, भट्ट-नारायण, मुरारि, दामोदर मिश्र, राजशेखर, क्षेमीश्वर, दिङ्नाग, कृष्ण मिश्र, जयदेव, वत्सराज।

अब तक प्रकाशित अथवा अप्रकाशित संस्कृत नाटकों की संख्या छः सौ से अधिक है, परन्तु उनमें से महत्वपूर्ण रूपकों और रूपककारों की संख्या तो अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। भास, शूद्रक, कालिदास, अश्वघोष, हर्ष, भवभूति, विशाखदत्त, भट्ट नारायण, मुरारि, दिङ्नाग, कृष्ण मिश्र और जयदेव ऐसे ही नाटककार हैं जिन्होंने काल के कराल गाल में प्रवाहित होने पर भी अपने अस्तित्व को विलुप्त नहीं होने दिया है और अब हम इन्हीं नाटककारों की रचनाओं और विशेषताओं पर एक विहङ्गम दृष्टि-निक्षेप करेंगे।

भास—सन् १९०९ में स्वर्गीय महामहोपाध्याय टी. गणपति शास्त्री को त्रावणकोर राज्य में भास के तेरह नाटक खोज में मिले थे। उनके अनुसार इन नाटकों के रचयिता वही महाकवि भास हैं जिनका उल्लेख कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना में इस प्रकार किया है—**'प्रथितयशसां भाससौमिल्ल कविपुत्रादीनां प्रबन्धानविक्रम्य कथं वर्तमानस्यकवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमनः'**। और वस्तुतः इस कथन में कोई सन्देह नहीं है कि ये तेरहों नाटक एक ही व्यक्ति की कृति हैं क्योंकि इन सभी में पर्याप्त

सादृश्य के दर्शन होते हैं यथा सभी आकार में लघु हैं, सभी की भाषा-शैली एक-सी है, सभी में संस्कृत के अपाणिनीय एवं आर्ष प्रयोग पाए जाते हैं, सभी में अनेक भाव, मुहावरे, वाक्य, पद्य तथा श्लोकों के चरण समान हैं, सभी में नाटककार के नामोल्लेख का अभाव है, सभी 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' के नाटकीय निर्देश से आरम्भ होते हैं तथा सभी में प्रस्तावना के स्थान पर स्थापना का प्रयोग हुआ है। इतना ही नहीं सभी के भरत-वाक्यों तक में समानता पाई जाती है।

यद्यपि अनेक विद्वानों ने यह शङ्का उठाई है कि यह नाटक भास प्रणीत नहीं हैं किन्तु आज इस मत को किसी प्रश्रय की प्राप्ति नहीं है जिसका मूल कारण यही है कि विद्वानों ने बहुमत से तेरह नाटकों को भास विरचित मान लिया है।

भास के सम्बन्ध में एक अति महत्वपूर्ण तथा विवादास्पद प्रश्न स्थितिकाल के सम्बन्ध में है। यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं किन्तु इतना होने पर भी यह तो निश्चित ही है कि वे कालिदास के पूर्ववर्ती एक प्राचीन नाटककार थे। इसकी पुष्टि उनकी शैली से जो परवर्ती काव्यों की अलंकृत शैली से बिलकुल भिन्न है, उनकी भाषा में प्रयुक्त अनेक आर्ष एवं अपाणिनीय प्रयोगों से तथा उनके नाटकों में चित्रित पुरातन वातावरण से भी होती है। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र में भास का जो उल्लेख किया है उससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय भास एक यशस्वी प्राचीन नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० निश्चित-सा हो चुका है, अतः इस समय के लगभग ५० वर्ष पूर्व भास की स्थिति मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार भास का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता। यूरोपीय विद्वान जो कालिदास को गुप्तकालीन मानते हैं भास का समय तृतीय या चतुर्थ शताब्दी (ईसवी) निर्धारित करते हैं।

भास के नाटकों की अनेकता तथा विविधता से भास की नाट्यकला की कुशलता एवं मौलिकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। घटना की एकता, घटना

की सार्थकता, घटनाओं की घात-प्रतिघात गति, कवित्व, चरित्र-चित्रण और स्वाभाविकता नाटक के लिए आवश्यक इन सभी गुणों का समावेश भास के यहाँ देखने को मिलेगा। शैली की दृष्टि से भी भास को इसी प्रकार की सफलता की प्राप्ति हुई है। सर्वत्र ओज, प्रसाद एवं माधुर्य गुण; उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि सरल और प्रचलित अलंकार एवं स्वाभाविक पद-विन्यास की झलक तो भास के यहाँ पग-पग पर देखने को मिलती है।

शूद्रक—संस्कृत साहित्य में नृप शूद्रक एक महान् एवं लोकप्रिय नाटककार आ है। इसके नाम का उल्लेख वेतालपंचविंशति में, दण्डी के दशकुमार चरित में, बाण के हर्ष-चरित्र और कादम्बरी ग्रन्थों में तथा सोमदत्त के कथासरित्सागर में पाया जाता है। कल्हण ने इसे नृप विक्रमादित्य से पूर्वभावी बतलाया है। इसका जीवन-चरित अङ्कित करने के लिए कई ग्रन्थ लिखे गए थे। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में भी इसके जीवन की कई घटनाएँ वर्णित हैं। यह वेदों का उत्कृष्ट विद्वान्, गणित में गतिमान, कमनीय कलाओं का कान्त और युद्ध-वीरों के वर वैभव का स्वामी था। दुष्कर तपस्या करके इसने पार्वतीश्वर से वर प्राप्त कर लिया था। औपाख्यानिक वर्णनों में इसकी विविध विजयों और कृतियों की गाथा सुनी जाती है।

दुर्भाग्य से शूद्रक का काल अभ्रान्त नहीं है। दण्डी, बाण और वेतालपंचविंशति ने इसके नाम का उल्लेख किया है अतः यह इनसे पूर्वभावी अवश्य सिद्ध होता है। कल्हण के मतानुसार इसी के बाद विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा, परन्तु यही विक्रमादित्य विक्रमी संवत् का प्रवर्त्तक था ऐसा सिद्ध करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। लेकिन मृच्छकटिक भास के चारुदत्त नाटक का परिवर्धित रूप जान पड़ता है अतः उचित यही प्रतीत होता है कि शूद्रक भास के उपरान्त हुआ।

मृच्छकटिक दस लम्बे-लम्बे अङ्कों में विभाजित है जिसमें चारुदत्त नामक आदर्श चरित ब्राह्मण तथा बसन्तसेना नाम्नी गुणसम्पन्ना वेश्या की प्रणय-कथा का अङ्कन है। समाज का चित्रण करने वाले संस्कृत रूपकों में यह ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ

है। संस्कृत के अधिकांश नाटकों में तो हमें राजदरबारों के ही चित्र देखने को मिलते हैं लेकिन यहाँ हमें जनता के हृदय की सच्ची झांकी देखने को मिलती है। इसमें भारतीय समाज के निम्न स्तर के लोगों का चरित्र भी बड़ी सुन्दरता से खींचा गया है। द्यूत-क्रीड़ा में हारे हुए पुरुषों के पारस्परिक युद्ध की बानगी भी हमें यहाँ देखने को मिलती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यह नाटक अति सुन्दर बन पड़ा है। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि सत्ताईस के सत्ताईस पात्रों का व्यक्तित्व अत्यन्त स्पष्ट है। पात्रों में राजदरबारी, पुलिस के सिपाही, लुटेरे, चोर, राजनीतिक व्यक्ति तथा श्री १०८ संन्यासी भी हैं। परंतु इन सभी पात्रों में सर्वाधिक प्रभावशाली हैं चारुदत्त और वसंतसेना। चारुदत्त निर्धन है परंतु उसमें सज्जनता तथा दयालुता कूट-कूट कर भरी हुई है। इसी प्रकार से वसंतसेना वेश्या होकर भी विशुद्ध प्रेम दिखाती है।

दो प्रेमियों की निजी प्रेमकथा में राजनीतिक क्रांति मिला देने से रूपक की रमणीयता में और भी चार चाँद लग गए हैं।

कालिदास—कालिदास की गणना संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में होती है। उनका स्थिति काल प्रथम शताब्दी ई० पू० में उज्जयिनी के परमार वंशी सम्राट विक्रमादित्य के राज्यकाल में माना जाता है। कालिदास ने तीन नाटकों का प्रणयन किया है—

१. **विक्रमोर्वशीय**—इसमें उर्वशी और पुरुरवा का विख्यात आख्यान पाँच अंकों में अंकित है।

२. **मालविकाग्निमित्र**—इसमें पाँच अंकों में राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय-कथा का अंकन है। यह नाटक ऐतिहासिक तत्वों से पूर्ण है। इसके नायक अग्निमित्र मौर्य्य राज्य के विध्वंसक तथा शुंग वंश के संस्थापक राजा पुष्यमित्र के ज्येष्ठ पुत्र हैं।

३. **अभिज्ञान शाकुन्तलम्**—इसमें चन्द्रवंशी नरेश राजा दुष्यंत तथा शकुन्तला की प्रणय-कथा का नितान्त सुन्दर तथा कल्पना प्रसूत शब्दों में अंकन

किया गया है। इस नाटक की मूल कथा महाभारत के आदि पर्व में प्राप्त होती है किन्तु वहाँ पर यह नितान्त अरोचक तथा आदर्शहीन रूप में आई है। लेकिन कालिदास ने अपनी अलौकिक प्रतिभा एवं कुशल मेधा के द्वारा इसे ऐसा रमणीय रूप प्रदान कर दिया है कि वह दो हजार वर्षों से भारतीय विद्वानों और जनता का ही मनोरंजन नहीं करता आया है अपितु सैकड़ों वर्षों से अन्य देशों के सहृदयों को भी विमुग्ध करता रहा है।

कालिदास की नाट्य-कला—वस्तु के विकास में, पात्रों के चित्रण में तथा रस के प्रदर्शन में कालिदास की अद्भुत प्रतिभा हमें पग-पग पर चमत्कृत करती है, कालिदास के पात्र जीते-जागते, भारतीय संस्कृति के परम रमणीय एवं कल्पनामय जीव हैं। कालिदास ने अपने पात्रों का चित्रण इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि वे मूर्ति रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। उर्वशी, मालविका, धारणी, अनसूया, प्रियंवदा तथा शकुन्तला ऐसे ही सजीव और तेजस्विता से मण्डित स्त्री पात्र हैं। पुरुष पात्रों में पुरुरवा, आयु, अग्निमित्र तथा दुष्यंत को लिया जा सकता है।

मानव-हृदय की परख कालिदास को विशेष रूप से थी। वे बाह्य प्रकृति के जितने कुशल पर्यवेक्षक थे उतने ही बड़े समीक्षक मानव प्रकृति के भी थे। विभिन्न अवस्थाओं में प्रेमी और प्रेमिकाओं के हृदय में जो भाव अपना खेल दिखलाया करते हैं उनका उपयुक्त शब्दों में अंकन कर देना कालिदास की अपनी विशेषता है। उनमें श्रृंगार रस की प्रधानता तो अवश्य विद्यमान है पर साथ ही वीर, करुण और हास्य का भी सुन्दर पुट है। वस्तुतः महाकवि कालिदास छिछले तथा हल्के गुणों को लेकर पात्र की कल्पना कहीं भी नहीं करते प्रत्युत किसी मूल प्रवृत्ति पर जोर देकर अपने विश्व-वंदित पात्रों की सृष्टि करते हैं। इसलिए इनके नाटकों में विश्व-कल्याण के लिए मनोरम संदेश दिया गया है जिसका आचरण आज के मानव-समाज के लिए भी परम मंगलमय है।

अश्वघोष—अश्वघोष संस्कृत के प्रथम बौद्ध नाटककार माने जाते हैं। इनका स्थिति काल ईसा की प्रथम शताब्दी था। अश्वघोष को नाटककार के

रूप में मान्यता प्रदान कराने का श्रेय प्रो० लूडंस को है जिन्होंने सन् १९१० में मध्य एशिया के तूर-फान नामक स्थान में अश्वघोष के तीन नाटक ढूँढ़ निकाले। परन्तु इन तीनों नाटकों में से केवल एक ही अर्थात् शारिपुत्र-प्रकरण ही पूर्ण रूप में उपलब्ध होता है। शेष दो के तो खण्डित अंश ही मिल पाए हैं और उनका नाम तक पता नहीं चलता। लेकिन फिर भी इतना स्पष्ट है कि एक तो 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के समान रूपकात्मक है जिसमें बुद्धि, धृति, कीर्ति और बुद्ध पात्रों के रूप में चित्रित किए गए हैं तथा दूसरा 'मृच्छकटिक' की भाँति वेश्यानायिकात्मक है जिसमें मागधवती नामक वेश्या तथा कौमुदगंध नामक विदूषक आदि पात्र हैं।

शारिपुत्रप्रकरण में शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। यत्र-तत्र बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी गई है। संस्कृत के अन्य नाटकों की भाँति इसमें नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग आदि सभी नाटकीय लक्षण पाए जाते हैं। हाँ, अन्त में भरत वाक्य का प्रयोग प्राप्त नहीं होता।

अश्वघोष के नाटकों में कहीं-कहीं कुछ अशुद्धियाँ भी दृष्टिगत होती हैं जो संभवतः प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के फलस्वरूप हुई हैं। कुछ स्थलों पर अश्वघोष की प्राकृत में आर्ष प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं।

हर्ष—इनका समय ६०६ ई०–६४८ ई० है। ये कवियों के आश्रयदाता ही न थे प्रत्युत स्वयं भी सरस्वती देवी के उपासक थे। ये बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा मातंग दिवाकर के आश्रयदाता थे। कन्नौज तथा समग्र उत्तरी भारत पर राज्य करते थे। इन्होंने तीन रूपकों का प्रणयन किया। ये रचनाएँ हैं—प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागानन्द। कुछ आलोचकों का विचार है कि ये रचनाएँ राजा हर्ष की नहीं हैं अपितु उन्होंने अपने आश्रित बाण आदि किसी से इनकी रचना करा कर अपने नाम से प्रचलित कर दीं। परन्तु हर्ष स्वयं एक अच्छे लेखक थे। बाण ने उनकी काव्य-चातुरी की प्रशंसा अपने हर्षचरित में की है। जयदेव ने उन्हें कविता-कामिनी का हर्ष कहा है। सोड्ढल ने हर्ष

को 'श्री हर्ष' की उपाधि से विभूषित किया है। अतः हम निस्संदेह कह सकते हैं कि तीनों रचनाओं का प्रणयन श्री हर्ष ने ही किया है।

प्रियदर्शिका—रचना क्रम की दृष्टि से प्रियदर्शिका (राजा) हर्ष की प्रथम कृति है। चार अंकों में विभाजित इस नाटक में राजा वत्स के अन्तःपुर की प्रणय-गाथा गुंफित है। यह गाथा इस प्रकार है—

प्रियदर्शिका के पिता युद्ध में पराजित होते हैं और विजेता राजा वत्स के अन्तःपुर में प्रियदर्शिका आरण्यका नाम से रानी की दासी वन कर रहती है। हर्ष उस पर मुग्ध हो जाते हैं। अन्तःपुर में वत्स का वासवदत्ता के साथ एक अभिनय खेला जाता है। उसमें राजा वत्स स्वयं वत्स वनते हैं और आरण्यका वासवदत्ता बनती है। रानी दोनों का प्रेम जान जाती है और आरण्यका को राजा से दूर रखने के लिए बंदीगृह में डाल देती है। अन्त में यह जानकर कि आरण्यका राजकुलोत्पन्न है रानी स्वयं राजा का विवाह प्रियदर्शिका के साथ होने की अनुमति देती है और उनका विवाह हो जाता है।

यद्यपि हर्ष के अन्य नाटकों की भाँति प्रियदर्शिका में उनके रचना-नैपुण्य तथा कल्पना वैभव का पूर्ण परिपाक दृष्टिगत नहीं होता किन्तु फिर भी अपनी प्रासादिक शैली, वस्तु-रचना की सरलता, अनेक रोचक घटनाओं एवं अवस्थाओं की सृष्टि तथा कतिपय उत्कृष्ट वर्णनों के द्वारा हर्ष अपनी इस नाटिका को रोचक बनाने में सफल हुए हैं।

रत्नावली—यह भी चार अंकों की नाटिका है। इसमें वत्सराज उदयन तथा उनकी रानी वासवदत्ता की परिचारिका सागरिका की रोचक प्रेम-कथा का वर्णन है। फलतः नाटक शृंगार रस प्रधान है। लेकिन इसमें कठिन समासों की प्रायः उपेक्षा ही की गई है। शैली सरस और प्रसादपूर्ण है। चरित्र-चित्रण भी अच्छा वन पड़ा है।

नागानंद—इसका कथानक बौद्ध जातकों से लिया गया है। इसका नायक बड़ा ही उदात्त-चरित्र है। इसका नायक जीमूतवाहन गरुड से नागों की रक्षा करने के लिए अपने प्रिय प्राणों की वलि भी दे देता है। उसे अपना जीवन

प्रिय नहीं है। उसे प्रिय है पर-उपकार, दूसरों का हित-चिन्तन तथा विश्व का मंगल, इस पात्र की कल्पना बड़ी ही उदात्त, मनोरम तथा पवित्र हो पाई है।

भवभूति—भवभूति संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार हैं। यश और योग्यता की दृष्टि से संस्कृत नाट्य परम्परा में कालिदास के बाद भवभूति का ही नाम लिया जाता है। ये कान्य-कुब्ज के नरेश यशोवर्मा के दरबार में रहते थे। इन यशोवर्मा को कश्मीर के राजा जयपीड़ ने ७४२ ई० में परास्त किया था। अतः भवभूति का समय सातवीं शताब्दी का अन्त तथा आठवीं शताब्दी का आरम्भ काल है।

इनका जन्म विदर्भ देश में वेद के विद्वानों के विख्यात वंश में हुआ था। ये स्वयं बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी प्रथम कृति की तत्कालीन कला-कुशलों ने बड़ी कटु समीक्षा की, किन्तु अपनी कला की उत्कृष्टता से अभिज्ञ और आशा से परिपूर्ण भवभूति ने अपनी लेखनी को उठा कर न रक्खा। ये निर्भय होकर साहित्य-सृजन करते चले गये। इन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो शारदा देवी इनकी वंशवदा अनुचरी है। इनका विचार था कि प्रायः लोग स्त्रियों के सतीत्व और कवि-कृतियों के चमत्कार को संदेह की दृष्टि से देखा ही करते हैं। आगे चलकर आलोचकों को फटकार बताते हुए इन्होंने कहा भी था कि में यह प्रयास तुम लोगों के लिए नहीं कर रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे जैसा हृदय और मेरी जैसी प्रतिभा रखने वाला कोई पुरुष कभी अवश्य पैदा होगा क्योंकि समय का कोई अन्त नहीं और यह पृथ्वी भी बहुत बड़ी है।

भवभूति ने केवल नाटकों का ही प्रणयन किया है। इनके द्वारा प्रणीत नाटकों की संख्या तीन है। इन तीन नाटकों के नाम हैं—१. महावीरचरित, २. मालती-माधव, ३. उत्तररामचरित।

महावीर-चरित—इसमें रावण विजय तक रामचरित का ओजस्वी वर्णन है। कथावस्तु का आधार रामायण है किन्तु इसमें और रामायणी कथा में पर्याप्त अन्तर है। इसमें तो आरम्भ से ही रावण राम के विनाश के लिए भांति-भांति के कुचक्र रचता है। पुस्तक पर एक विहंगम दृष्टि-निक्षेप करने

से ही इसके दोष स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं यथा कुछ दृश्य अनाटकीय हो गए हैं और अनेक विस्तृत वर्णनों तथा लम्बी वक्तृताओं के कारण क्रिया-वेग दुर्बल हो गया है तथा चरित्र-चित्रण में धुंधलापन है। माल्यवन्त और रावण जैसे मुख्य पात्र भी पाठक के मन में अग्रगण्य व्यक्तियों के रूप में भासित नहीं होते हैं।

मालतीमाधव—मालतीमाधव दस अंकों का एक प्रकरण है जिसमें मालती और माधव के प्रणय बंधन का कल्पित वर्णन है। यद्यपि भवभूति की रचना यथार्थ की प्रतिमूर्ति है परन्तु पात्रों के राग एवं शोक का अधिकांश भाग कृत्रिम प्रतीत होता है। तुलनात्मक दृष्टि से (कालिदास की रचनाओं से) नवें अंक पर कालिदास के मेघदूत का और विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक का प्रभाव दृष्टिगत होता है, यथा मेघदूत के समान इसमें भी माधव मेघ के द्वारा अपनी प्रियतमा को संदेश भेजना चाहता है। यद्यपि भवभूति में कालिदास की मनोरमता और मादकता नहीं है किन्तु फिर भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि करुणरस के वर्णन में कवि कालिदास से आगे बढ़ गया है।

उत्तररामचरित—यह भवभूति की सर्वश्रेष्ठ कृति है और जैसा कि नाम से ही प्रकट है इसमें राम के उत्तरवर्ती जीवन अर्थात् राज्याभिषेक के पश्चात् राम के जीवनचरित्र का वर्णन है।

सात अंकों के इस नाटक में भवभूति ने करुणरस के वर्णन को उसकी चरमसीमा तक पहुँचा दिया है। वस्तुतः इस दिशा में तो संस्कृत का कोई भी नाटककार यहाँ तक कि कालिदास भी भवभूति की समानता नहीं कर पाया है। भवभूति के करुण विलाप से पाषाण भी रोते थे और वज्र हृदय भी फटते थे। कुछ विचारकों का विचार हैं कि कवि ने अपने इस गुण से अभिज्ञ होकर ही कहा होगा, "एकोरसः करुण एव निमित्त भेदात्..........।"

उत्तररामचरित में कवि को अपने अन्य रूपकों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। कवि ने चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में अद्भुत कौशल दिखाया है और इस प्रकार से आशातीत सफलता की प्राप्ति की है। इसी प्रकार से किसी-

किसी घटना या भाव को थोड़े ही शब्दों में हृदयंगम कराने में कवि पूर्णतः सिद्धहस्त है। प्रकृति में जो कुछ भी भीषण एवं अलौकिक है उसका एवं पर्वतों, निविड़ काननों, झरझर करते हुए झरनों एवं दुष्प्रवेश उपत्यकाओं का सुन्दर चित्रण इस नाटक में देखने को मिलता है। शैली की दृष्टि से कवि में विचार-द्योतन की पूर्ण योग्यता है। इतना ही नहीं समापाक अक के अन्दर एक और रूपक मिलाने में तो कवि ने कमाल कर दिया है। उत्तर-रामचरित के अन्तिम अंक में—सीता-राम के पुनर्मिलन में—कवि ने जिस चमत्कार और गंभीर रस की सृष्टि की है वह तो शकुन्तला-दुष्यन्त के वन-खण्ड प्रणय में भी प्राप्त नहीं। किन्तु इन सभी विशेषताओं के होने पर भी उत्तररामचरित दोषमुक्त नहीं है। वस्तुतः इस नाटक का सबसे बड़ा दोष क्रियावेग की मन्दता है और सम्भवतः इसीलिए आधुनिक आलोचना की तुला पर तोलने के बाद इसे वास्तविक नाटक होने की अपेक्षा नाटकीय काव्य अधिक समझा गया है।

विशाखदत्त—विशाखदत्त की प्रसिद्ध रचना मुद्राराक्षस है। इसकी प्रस्तावना में रचयिता ने स्वयं बतलाया है कि वह दत्त नामक उच्च कुल का वंशधर है। वह कुल सामन्तों और महाराजाओं का कुल रहा है इसीलिए यह निश्चित किया गया है कि ये एक सामन्त के पौत्र और महाराज के पुत्र थे। कीथ महोदय के अनुसार इनके दादा का नाम वटेश्वरदत्त और पिता का नाम महाराज पृथु था।

विशाखदत्त की सर्वश्रेष्ठ कृति मुद्राराक्षस है जिसका कथानक राजनीतिक एवं ऐतिहासिक है लेकिन इतना होने पर भी अरुचिकर नहीं। सर्वत्र घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध तथा सार्थक हैं एवं प्रवाह अकुण्ठित है। लेखक कथावस्तु के विन्यास में ही नहीं अपितु चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में भी सफल हुआ है। भागुरायण, निपुणक, सिद्धार्थक, शकटदास और चन्दनदास जैसे गौण पात्रों के चरित्र भी अत्यन्त स्पष्ट एवं सजीव बन पड़े हैं। रस-योजना की दृष्टि से इस नाटक का अङ्गी रस वीर है लेकिन वेणीसंहार की तरह नहीं। अभिव्यंजना

कौशल के क्षेत्र में लेखक ने सर्वत्र उत्कृष्ट कलात्मकता का परिचय दिया है। अनुरूप उपमाएँ एवं अप्रस्तुत विधान तथा सहज एवं सुबोध अलङ्कार योजना का प्रयोग सर्वत्र ध्यातव्य है।

मुद्राराक्षस के अतिरिक्त विशाखदत्त ने देवीचन्द्र गुप्त तथा राघवानन्द नामक नाटकों का भी प्रणयन किया था किन्तु इनमें से प्रथम की अपूर्ण प्रति तथा द्वितीय की कैसी भी प्रति उपलब्ध नहीं है।

भट्टनारायण—ये वेणीसंहार नाटक के प्रणेता हैं। मैकडानल ने इनका समय ८४० ई० निर्धारित किया है जिसका प्रमाण ८४० ई० का एक ताम्र-पत्र है जिसमें भट्टनारायण को दान दिए जाने का उल्लेख है। यह भट्टनारायण के समय का साक्षात् प्रमाण है। आनन्दवर्धन (८५० ई०) आदि ने अपने ग्रंथों में वेणीसंहार से उद्धरण दिए हैं अतः यह निश्चित है कि भट्टनारायण ८५० ई० पूर्ववर्ती हैं। अतः भट्टनारायण का समय ८४० ई० निश्चित है।

भट्टनारायण की कीर्ति का एकमात्र आधार उनकी वेणीसंहार नाम्नी रचना है। महाभारत की एक सुप्रसिद्ध घटना इसका प्रतिपाद्य विषय है। द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक दुःशासन कृत उसके अपमान का बदला नहीं चुका लिया जाएगा तब तक वह अपने सिर का जूड़ा नहीं बांधेगी। भीम जोश में आ जाता है और प्रतिज्ञा करता है कि द्रौपदी के अपमान का बदला मैं दुःशासन के रक्त को पीकर, दुर्योधन को मार कर और उसके रक्त में हाथ सान कर तथा उससे द्रौपदी के बालों की लट को बांध कर लूंगा। फलतः महाभारत का जगत्प्रसिद्ध युद्ध होता है, भीम दुःशासन के रुधिर में रंगे हुए अपने हाथों से द्रौपदी का जूड़ा बांधता है और इस प्रकार से अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर दिखाता है।

वस्तुतः सात अंकों के वीर रस पूर्ण इस नाटक में महाभारत की सुप्रसिद्ध घटना का प्रति सफलता पूर्वक अंकन किया गया है। कथानक के अनुरूप ही उसकी कविता है तथा ओज गुण से युक्त और बहुत अधिक समासों से पूर्ण शब्द-चित्र ही देखने को मिलते हैं। पात्रों का चित्रण भी काफी सफल हुआ

है। युधिष्ठिर सात्विक और धीर प्रकृति के नायक हैं। भीमसेन उद्धत योद्धा हैं, अर्जुन अदम्य उत्साह की प्रतिमूर्ति है और प्रतिनायक दुर्योधन अभिमान का जीता-जागता पुतला है। भाव धारा तथा अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से भी यह नाटक श्लाघ्य है किन्तु सम्वादों की बहुलता के कारण इसकी अभिनयशीलता में कमी अवश्य आ गई है।

मुरारि—यह अनर्घराघव के प्रणेता हैं। इन्होंने अपने नाटक में भवभूति विरचित उत्तर-रामचरित के दो श्लोक उद्धृत किए हैं। फलतः यह सिद्ध है कि मुरारि भवभूति के पश्चात् हुए। भवभूति का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है अतः यह निश्चित है कि मुरारि ७०० ई० के पश्चात् हुए। काश्मीर निवासी रत्नाकर ने अपने महाकाव्य हरिविजय में मुरारि की ओर स्पष्ट संकेत किया है। हरिविजय का समय नवीं शताब्दी (८५० ई०) है अतः यह सिद्ध है कि मुरारि नवीं शताब्दी ई० के पूर्व हुए। इन प्रमाणों के आधार पर मुरारि का स्थितिकाल आठवीं शताब्दी ई० के लगभग है।

अनर्घराघव में रामचन्द्र का ताड़का वध से लेकर राज्याभिषेक तक का हाल वर्णित है। किन्तु कितने ही स्थलों पर कथा में परिवर्तन भी कर दिया गया है फलतः नाटक में चारुता का समावेश हो गया है। शैली निरूपण की दृष्टि से भी मुरारि कृत अनर्घराघव सुन्दर बन पड़ा है। सर्वत्र गम्भीर और प्रौढ़ शब्दावली तथा मौलिक उपमाओं के दर्शन होते हैं। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी यह तथ्य तनिक भी निर्भ्रान्त नहीं है कि अनर्घराघव में नाट्य-कला की अपेक्षा व्याकरण विषयक पाण्डित्य और कृत्रिमता का प्राधान्य है। लम्बे-लम्बे छन्दों में अनगढ़ एवं कटु शब्दों का बाहुल्य भी दृष्टिगत होता है।

दामोदर मिश्र—मुरारि के उपरान्त दामोदर मिश्र का नाम ही प्रसिद्ध नाटककार के रूप में आता है। इनके नाटक का नाम हनुमन्नाटक है, जो १४ अङ्कों में विभाजित है और रामायण की कथा को लिए हुए है। इस नाटक के रचना काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यद्यपि कुछ भी नहीं कहा जा

सकता किन्तु फिर भी इतना तो निश्चित है कि इसकी रचना ८५० ई० के पहले अवश्य हो गई होगी क्योंकि आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक (८५० ई०) में इसे उद्धृत किया है। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। पहला संस्करण १४ अंकों वाला है और दूसरा ९ अंकों वाला। पहला संस्करण ही दामोदर मिश्र विरचित प्रतीत होता है। दूसरा संस्करण मधुसूदनदास विरचित प्रतीत होता है।

दामोदर मिश्र विरचित संस्करण में प्राकृत का बिल्कुल प्रयोग नहीं हुआ है। पद्यों की प्रचुरता, गद्य की न्यूनता, पात्रों की बहुसंख्यता तथा विदूषक का अभाव इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

राजशेखर—इनका समय दसवीं शताब्दी है और यह संस्कृत के नाटक रचयिताओं में पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध हैं। वे अपने को वाल्मीकि का अवतार मानते थे, यायावर वंश के ब्राह्मण थे जिसमें अकाल जलद, कविराज, तरल जैसे प्रसिद्ध कवि हो गए थे, कान्यकुब्ज नरेश प्रतिहार वंशी महेन्द्रपाल तथा महीपाल (९२५ ई०) के दरबार को सुशोभित करते थे। दरबार में इनका बड़ा आदर था और वह था इनकी कमनीय कविता के कारण। इनके चार नाटक मिलते हैं जो इस प्रकार हैं—

कर्पूर मंजरी—यह प्राकृत भाषा में लिखा हुआ चार अंकों का एक सट्टक (नृत्य-प्रधान नाटक) है। इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तलराजकुमारी कर्पूर मंजरी की प्रणय कथा वर्णित है। यद्यपि इसका कथानक लघु है और चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं है फिर भी कई दृष्टियों यथा भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, ग्राम-गीत तथा पद-लालित्य की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण नाटक है।

विद्धशाल भंजिका—यह राजशेखर की दूसरी कृति है। यह चार अंकों की एक नाटिका है। इसका भी कथानक कर्पूर मंजरी के समान ही अत्यन्त रोचक है।

बाल रामायण—दस अंकों में विभाजित यह कृति राजशेखर की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में मानी जाती है। इसमें रामकथा का अनावश्यक विस्तार है। इस

नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें रावण की प्रणय-भावना का सफल अंकन किया गया है। शुरू से ही सीता को प्राप्त करने के लिए रावण राम का प्रतिद्वन्द्वी दिखलाया गया है।

बाल भारत या प्रचण्ड-पाण्डव—यह रूपक अपूर्ण है। केवल दो अंक प्राप्त हैं जिनमें द्रौपदी के विवाह, द्यूत दृश्य तथा पाण्डवों के वन-गमन तक का वर्णन है।

राजशेखर के नाटकों में प्रवाह की शिथिलता, हास्य-रस की न्यूनता तथा नाट्य-कला-कौशल का अभाव दीख पड़ता है। इनकी विशेषता तो शब्दों की नोक-झोंक और वाक्यों के सुन्दर विन्यास में ही है। वस्तुतः इनकी प्रतिभा रूपक के अनुकूल न होकर महाकाव्य के अनुकूल है। यदि इन्होंने कोई महा-काव्य लिखा होता तो इन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई होती। इनके काव्य में वर्णन की बहुलता है। ये लम्बे-लम्बे छन्दों के लिखने में विशेषरूप से सिद्धहस्त हैं।

क्षेमीश्वर—नैषधानन्द और चण्ड कौशिक के प्रणेता क्षेमीश्वर राजशेखर के समकालीन थे क्योंकि इन दोनों के आश्रयदाता कन्नौज के राजा महीपाल थे। नैषधानन्द सात अङ्कों का नाटक है जिसमें नल दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा वर्णित है। चण्ड कौशिक में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान वर्णित है। भाषा सरल है किन्तु नाटक के कथानक तथा वस्तु-विश्लेषण में कोई विशेषता नहीं है।

दिङ्नाग—इनकी प्रसिद्ध एवं प्राप्य रचना कुन्दमाला है। छः अङ्कों में विभाजित इस रचना का प्रकाशन भी कुछ ही समय पूर्व दक्षिणी भारत में प्राप्त हुई चार हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सन् १९३३ में दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला में हुआ। इसने विद्वानों का ध्यान शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और तब से अब तक यह कई टीकाओं तथा अनुवादों के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

कुन्दमाला के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि उसके रचयिता ५ वीं शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक

दिङ्नाग हैं जिनका उल्लेख मेघदूत के चौदहवें पद्य में मिलना है और जिनको मल्लिनाथ ने उक्त पद्य की अपनी टीका में कालिदास का समकालीन और प्रतिस्पर्धी माना है। इस आधार पर यह भी कहा जाता है कि भवभूति अपने उत्तररामचरित की रचना में कुन्दमाला से प्रभावित हुए हैं।

किन्तु नवीनतम शोधों के आधार पर उपर्युक्त मत सर्वथा निराधार सिद्ध हो चुका है। कुन्दमाला की रचना दिङ्नाग जैसे बौद्ध दार्शनिक द्वारा नहीं मानी जा सकती क्योंकि कुन्दमाला में आर्ष वैदिक धर्म का दिग्दर्शन ही उपलब्ध होता है, जो एक बौद्ध कवि अथवा दार्शनिक द्वारा कदापि सम्भव नहीं। वस्तुतः कुन्दमाला के कर्त्ता कोई दूसरे दिङ्नाग या धीरनाग हैं। कुन्दमाला का सर्वप्रथम उल्लेख रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण में मिलता है। भवभूति के पूर्ववर्ती साहित्य में कहीं भी कुन्दमाला का उल्लेख नहीं मिलता अतः कुन्दमाला के कर्त्ता दिङ्नाग भवभूति के परवर्त्ती प्रतीत होते हैं और उनका स्थिति काल १००० ई० के लगभग माना जा सकता है क्योंकि ११०० ई० के पूर्व उनका साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता।

कुन्दमाला का कथानक रामायण के उत्तर काण्ड से लिया गया है और इसमें सीता के वन में निर्वासन की, राम को उसका पता लगाने की और दोनों के पुनर्मिलन की कहानी दी गई है। वाल्मीकि के आश्रम में बहती हुई कुन्द पुष्पों की माला को देखकर राम ने सीता का पता लगा लिया था, इसीलिए नाटक का नाम कुन्दमाला रक्खा गया।

शैली और नाट्य-कला की दृष्टि से इस नाटक में सजीवता और क्रियावेग दोनों की ही प्राप्ति होती है। वस्तुतः प्रसादपूर्ण और सरल भाषा-शैली, तथा लम्बे-लम्बे समासों का परित्याग दिङ्नाग की बहुत बड़ी विशेषता है। चरित्र-चित्रण भी अधिक विशद और मनोहर है।

कृष्ण मिश्र—ये प्रबोधचन्द्रोदय नामक रूपक के प्रणेता हैं और राजा कीर्तिवर्मा के राज्यकाल में हुए हैं। इस राजा का एक शिलालेख १०९८ ई० का प्राप्त हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय ११०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

प्रबोधचन्द्रोदय शान्त रस प्रधान रूपकात्मक नाटक है जिसमें वेदान्त के अद्वैतवाद का रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि भावों को पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप में कल्पित कर अध्यात्म विद्या का सुन्दर उपदेश दिया गया है।

जयदेव—यह गीत-गोविन्द के प्रणेता बङ्गाल निवासी जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं। यह जयदेव विदर्भ देश वासी हैं। इन्होंने प्रसन्नराघव नाटक का प्रणयन किया है और इनका समय १२०० ई० है।

सात अङ्कों में विभाजित यह नाटक रामायण की लोक-प्रसिद्ध कथा पर आधृत है किन्तु लेखक ने ऐतिहासिक कथानक लेते हुए भी अनेक रोचक परिवर्तनों का समावेश कर दिया है। काव्य-कौशल की दृष्टि से लेखक का संस्कृत भाषा पर असामान्य अधिकार परिलक्षित होता है। उसकी भाषा में अद्भुत लालित्य है। पद-शय्या इतनी मसृण एवं उदार है कि भाषा में अपूर्व रमणीयता आ गई है।

वत्सराज—ये कालंजर नरेश परमर्दीदेव (११६३-१२०३) के मन्त्री थे। इन्होंने छः नाटकों की रचना की। इन छः नाटको के नाम हैं—

१—किरातार्जुनीय व्यायोग, २—कर्पूर चरित्र, ३—हास्य चूड़ामणि, ४—रुक्मणी हरण, ५—त्रिपुरदाह, ६—समुद्र मन्थन।

किरातार्जुनीय व्यायोग—भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के आधार पर रचा गया एकाङ्की व्यायोग है।

कर्पूर चरित्र—एक अंक का भाण है जिसमें कर्पूर अपने रोचक अनुभवों का वर्णन करता है।

हास्य चूड़ामणि—एकांकी प्रहसन है।

रुक्मणी हरण—चार अङ्कों का ईहामृग है।

त्रिपुरदाह—चार अङ्कों का डिम है जिसमें शिव द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंस का वर्णन है।

समुद्र मन्थन—तीन अंकों का समवकार है। इसमें देवताओं और राक्षसों द्वारा समुद्र मन्थन, समुद्र से चौदह रत्नों की उत्पत्ति, विष्णु और लक्ष्मी का प्रणय तथा विवाह आदि घटनाएँ वर्णित हैं।

वस्तुत: भास के उपरान्त वत्सराज ही एक ऐसे नाटककार हुए हैं जिन्होंने इतने विविध प्रकार के रूपकों की रचना की है। उनकी शैली सरल, सशक्त और ललित है। उसमें दीर्घ समासों तथा दुरूह वाक्य-विन्यास का सर्वथा अभाव है तथा सर्वत्र क्रियाशीलता एवं रोचकता ही दृष्टिगत होती है।

प्रश्न २३—त्रिवेन्द्रम में उपलब्ध नाटकों को भास प्रणीत क्यों माना जाता है यह बतलाते हुए भास की नाट्य-कला पर प्रकाश डालिए।

संस्कृत नाट्य साहित्य में भास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में उनका नामोल्लेख बहुत आदर के साथ किया है। सन् १९११ ई० तक भास के नाटकों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न था। किन्तु इसी वर्ष पं० गणपति शास्त्री को मालाबार से अनेक नाटकीय ग्रन्थ प्राप्त हुए तथा उन्होंने अनेक प्रमाणों के आधार पर भास को उन नाटकीय ग्रंथों का प्रणेता घोषित किया और त्रिवेन्द्रम से भास के नाम से कुछ नाटकों को प्रकाशित किया। पं० गणपति शास्त्री की इस उद्घोषणा के उपरान्त भास के नाम से प्रकाशित नाटकों की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार-विनिमय हुआ तथा इस सम्बन्ध में विद्वानों के तीन दल बन गए। प्रथम मत के अनुसार इन नाटकों के प्रणेता निश्चित रूप से भास ही हैं। दूसरे मत के अनुसार इन नाटकों का प्रणेता या तो 'मत्तविलास-प्रहसन' का प्रणेता युवराज महेन्द्रविक्रम था अथवा 'आश्चर्य-चूड़ामणि' नाटक का प्रणेता शीलभद्र। इस विचारधारा के विद्वानों का विचार है कि ये नाटक सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी में किसी दाक्षिणात्य कवि के द्वारा प्रणीत किए गए होंगे। प्रो० सिलवाँ लेवी, प्रो० विंटरनिट्ज़ तथा प्रो० सी. आर. धर इसी मत के अनुगामी हैं। इस सम्बन्ध में तीसरी विचारधारा यह है कि उपलब्ध १३ नाटक भास प्रणीत

है, किन्तु जिस रूप में उपलब्ध हुए हैं वह उनका संक्षिप्त रंगमञ्चोपयुक्त रूप ही है। इस विचारधारा की भी अनेक उपविचारधाराएं हैं, यथा कुछ विद्वानों के विचारानुसार ये सभी नाटक भास के नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं तो कुछ विद्वानों के मतानुसार 'स्वप्नवासवदत्ता' तथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' तो भास के ही नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं जबकि 'दरिद्रचारुदत्तम्' शूद्रक के मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अंकों का संक्षिप्त प है। अधिकांश विद्वान् इन नाटकों को भास विरचित ही स्वीकार करते हैं। डा० भोलाशकर व्यास ने इन नाटकों को भास प्रणीत मानने के लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए है :

१—ये सभी नाटक 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधार.' से आरम्भ होते हैं जबकि बाद के संस्कृत नाटकों में—कालिदास में भी—पहले नान्दी पाठ होता है तब यह वाक्य पाया जाता है। जब बाण भास के नाटकों को 'सूत्रधार-कृतारम्भ' कहता है, तो इसी विशेषता का संकेत करता है।

२—इन नाटकों में प्रस्तावना को इस पारिभाषिक संज्ञा से व्यवहृत न कर 'स्थापना' कहा गया है।

३—अन्य संस्कृत नाटकों की तरह स्थापना' में नाटक तथा नाटककार के नाम का संकेत नही मिलता जो शास्त्रीय संस्कृत नाटकों की परम्परा है। अतः ये नाटक इस परम्परा से पूर्व के हैं।

४—प्रत्येक नाटक का भरत-वाक्य प्रायः 'इमामपि मही कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' से या इस भाव के अन्य पद्य से समाप्त होता है।

५—सभी नाटकों में समान संघटना पाई जाती है तथा कुछ नाटको के प्रारम्भिक पद्य में मुद्रालंकार पाया जाता है।

६—इनमें से एक नाटक—स्वप्नवासवदत्ता का उल्लेख राजशेखर ने किया है और वह संकेत इस नाटक के इतिवृत्त से मिलता है।

७—भास के नाटकों के कई उल्लेख या उद्धरण अलंकार ग्रन्थों मे भी मिलते हैं। वामन में स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और चारुदत्त के

उदाहरण दिए हैं। भामह ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण की आलोचना करते हुए उससे पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। दण्डी ने बालचरित तथा चारुदत्त के 'लिम्पतीव तमोगानि वर्षतीवांजनं नमः' आदि पद्य को उदाहृत किया है और अभिनव-गुप्त ने भारती तथा लोचन में 'स्वप्नवासवदत्तम्' का उल्लेख किया है और एक पद्य (लोचन में) उद्धृत भी किया है। राजशेखर ने निश्चित रूप से स्वप्नवासवदत्तम् को भास के नाम से उल्लिखित किया है।

८—इन नाटकों की संस्कृत शुद्ध शास्त्रीय नहीं है और उनमें कई अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। उनकी शैली सरल है तथा कालिदास जैसी स्निग्धता लेकर नहीं आती। इन नाटकों की प्राकृत कालिदास की प्राकृत से पुरानी है।

९—इन नाटकों में भरत के नाट्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतः निर्वाह नहीं हुआ है। भरत ने जिन दृश्यों को मंच पर दिखाने का निषेध किया है, उनमें से कई दृश्य इन नाटकों में दिखाए गए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भास के नाटक उस काल के हैं, जब भरत के सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिष्ठित न हुए थे।

प्रतिपाद्य विषय के आधार पर भास के रूपकों को चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। ये चार प्रकार निम्नलिखित हैं—

१—रामायण पर आधारित रूपक प्रतिमा और अभिषेक।

२—महाभारत पर आधारित रूपक, बाल-चरित, पंचरात्र, मध्यम-व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभङ्ग।

३—उदयन सम्बन्धी कथाओं पर आधारित रूपक—स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण।

४—कल्पित रूपक—अविमारक तथा दरिद्र चारुदत्त।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भास के रूपकों की कथावस्तु का क्षेत्र अनेक प्रकार की विविधताओं से आपूर्ण है। लेकिन इतना होते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भास की सभी रचनाओं में एक जैसी

कुशलता के दर्शन नहीं होते । यदि रामायण से सम्वन्धित रूपकों का
कथा-संविधान बहुत शिथिल पड़ गया है तो महाभारत से सम्वन्धित रूपकों
के अध्ययन से उनकी प्रतिभा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है । लेकिन भास
को जितनी सफलता उदयन की रोमांटिक कथा से सम्वन्धित रूपकों में मिली
है उतनी अन्यत्र नहीं । लेकिन भास के रूपकों की समग्ररूपेण समीक्षा करने
के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि कथानक के संविधान की दृष्टि से उनकी
रचनाएँ सफल बन पड़ी हैं । घटना का ऐक्य, घटना की सार्थकता, घटनाओं
की घात-प्रतिघात गति आदि सभी दृष्टिकोणों से उनके रूपकों के कथानक
सफल बन पड़े हैं ।

चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में भी भास ने अपनी निपुणता का पूर्ण परिचय
दिया है । उन्होंने अपने पौराणिक पात्रों को वास्तविकता, मनोवैज्ञानिकता
तथा मार्मिकता के साथ अंकित कर बहुत प्रभावशाली बना दिया है । लेकिन
इतना होने पर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भास का उद्देश्य
कार्य संचालन है । फलतः उन्होंने चरित्र-चित्रण पर बहुत अधिक बल नहीं
दिया है ।

भास के रूपकों के सम्वाद बहुत चुस्त, संक्षिप्त, अनायासपूर्ण तथा
प्रभावोत्पादक हैं । इस दृष्टि से 'स्वप्नवासवदत्तम्', 'अविमारक' तथा 'उरुभंग'
नाम्नी कृतियों के सम्वाद विशेषरूपेण अवलोकनीय हैं । उन्होंने किसी पद्य
को पादों या उपपादों में विभाजित कर विभिन्न पात्रों के मुख से जो सम्वाद
कराए हैं वे निस्सन्देह अनुपम हैं । यह प्रयोग शीघ्र उत्तर-प्रत्युत्तर तथा चुभते
हुए सम्वादों के लिए विशेषरूप से सफल बन पड़ा है ।

भाषा की दृष्टि से भास के नाटकों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि
उसके यहां अनेक अपाणिनीय प्रयोग विद्यमान हैं । अनेक सन्धियां अशुद्ध हैं,
यथा—अवन्त्याधिपतेः, तमीवम् । अनेक स्थलों पर परस्मैपद तथा आत्मनेपद
के प्रयोगों में अपाणिनीय रूप दृष्टिगत होते हैं, यथा :—आपृच्छामि भवन्तौ,
कर्षमाणः, रक्षमाणा । इनमें से कुछ प्रयोग तो छन्दों की सुविधा के हेतु किए

गए हैं। इस सम्बन्ध में डा० कीथ का कथन है कि भास के इन प्रयोगों पर सम्भवतः रामायण तथा महाभारत के आर्ष प्रयोगों का प्रभाव है।

भास ने अपने नाटकों में प्रायः शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, चारुदत्त, बालचरित, पंचरात्र तथा कर्णभार नाटकों में मागधी का प्रयोग किया गया है।

भास की शैली के मूल गुण ओज, प्रसाद एवं माधुर्य हैं। उनकी शैली में क्लिष्ट कल्पना, समासभूयस्त्व तथा विकट-बन्धता का अभाव है। उनका पदविन्यास स्वाभाविकता से युक्त है तथा उन्होंने शब्दों के परिमित प्रयोगों द्वारा अपने भावों को अत्यन्त मार्मिक रूप प्रदान किया है। भावों को स्वाभाविक रूप देने के लिए उन्होंने प्रायः उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा जैसे तरल और स्वाभाविक अलङ्कारों का ही प्रयोग किया है।

भास के रूपक रंगमंच की दृष्टि से बहुत सफल बन पड़े हैं। उनके रूपक न तो परवर्त्ती रूपकों के समान लम्बे ही हैं और न उनमें अस्वाभाविक पद्यों अथवा सम्वादों की योजना ही है। घटनाचक्र की दृष्टि से भी महाभारत, उदयन तथा प्रणयकथा वाले रूपक रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत किए जा सकते हैं। यद्यपि बाली, दुर्योधन, कंस आदि का रंगमंच पर वध कुछ व्यक्तियों को अनुपयुक्त प्रतीत हो सकता है किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि भास दुर्जन पात्रों की रंगमंच पर मृत्यु दिखलाना अनुचित नहीं समझते। इसका कारण यह है कि दुष्ट पात्रों की मृत्यु से सामाजिकों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। भास के नाटकों में कहीं-कहीं पर दृश्य-योजना सम्बन्धी त्रुटियाँ भी देखने को मिलती हैं। लेकिन किंचित परिवर्त्तन के उपरान्त ये दृश्य भी सरलतापूर्वक रंगमंच पर अभिनीत किए जा सकते हैं।

संस्कृत के रूपकों का मूल लक्ष्य चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करना न होकर रसानुभूति उत्पन्न करना है। फलतः संस्कृत के रूपकों में काव्य की मात्रा बहुत अधिक देखने को मिलती है। संस्कृत के अनेक रूपकों में त काव्यत्व की मात्रा इतनी अधिक हो गई है कि रूपक अपना स्वत्व भी खो

बैठे हैं। भवभूति एक ऐसे ही रूपककार हैं जो कविता के प्रवाह में बहुत अधिक बह जाते हैं। लेकिन भास के यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। उनके यहाँ काव्यत्व सदा सहायक बन कर ही आया है जिसके फलस्वरूप उनके कवित्व-पूर्ण पद्य ऊपर से जोड़े हुए प्रतीत नहीं होते अपितु घटना-चक्र में सहायता ही प्रदान करते हैं। उनके नाटकों मे मुख्यतः वीर तथा शृङ्गार रस का प्रयोग देखने को मिलता है और इन दोनों रसों की व्यंजना में वे पूर्णतः सफल रहे हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि भास के रूपकों से उनकी प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है तथा वे भास की कीर्त्ति को अजर-अमर बनाने में पर्याप्त समर्थ हैं।

प्रश्न २४—भवभूति की नाट्यकला पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में नाट्य-रचना के क्षेत्र में कालिदास के उपरान्त भवभूति की ही गणना की जाती है। उनके नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी थे। उनका गोत्र काश्यप था तथा कुल उदुम्बर। वे पद्मपुर के निवासी थे। उनका अध्ययन बहुत विशाल था। व्याकरण, अलङ्कारशास्त्र, न्याय, मीमांसा, वेद, उपनिषद्, सांख्य और योग में वे पूर्णतः निष्णात थे। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें अपने जीवन में अनेक बार अनादर सहन करना पड़ा था। आलोचकों ने उनकी रचनाओं की कटु आलोचना की थी। लेकिन उन्होंने उन आलोचकों की कटु आलोचना की कोई चिन्ता न की बल्कि उपेक्षा ही की है। 'मालती-माधव' नाटक में अपने आलोचकों को फटकार बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ये किमपि तान् प्रति नैष चलः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

अर्थात् मैं यह प्रयास तुम लोगों के लिए नहीं कर रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरे जैसा हृदय और मेरी जैसी प्रतिभा रखने वाला कोई पुरुष कभी

अवश्य पैदा होगा क्योंकि समय का कोई अन्त नहीं और यह पृथ्वी भी बहुत बड़ी है।

भवभूति की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—

(क) महावीरचरित, (ख) मालती-माधव, (ग) उत्तररामचरित। ये तीनों रचनाएँ रूपक हैं। इन तीनों रूपकों में मालती-माधव तो एक प्रकरण है तथा शेष दो नाटक। नाटकीय संविधान की दृष्टि से ये तीनों रचनाएँ शिथिल हैं। वस्तुतः भवभूति के नाटककर्तृत्व का अध्ययन करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि भवभूति शुद्ध नाटककार न होकर गीति-नाट्यों के प्रणेता हैं। फलतः उनके यहाँ कवियों की सी भाव-तरलता अधिक है। भवभूति और कालिदास में मुख्य अन्तर यही है कि कालिदास का कवि नाटकीय संविधान पर हावी होकर उसे विकृत नहीं बना देता किन्तु भवभूति का कवि-हृदय नाटकीय संविधान की कोई चिन्ता नहीं करता।

ऊपर कहा जा चुका है कि भवभूति मूलतः कवि हैं। वे जहाँ एक ओर संयोग तथा वियोग शृङ्गार एवं करुण की कोमलता को अंकित करने में पटु हैं वहाँ दूसरी ओर वीर, रौद्र तथा वीभत्स का अंकन करने में भी अपने पूर्ण कौशल का परिचय देते हैं। दाम्पत्य-प्रणय के संयोग तथा वियोग दोनों अवस्थाओं के चित्र प्रस्तुत करने में उत्तररामचरित अनुपम है। उत्तररामचरित के प्रथम अंक में संयोग शृङ्गार का अत्यन्त सरस वातावरण उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार से शृङ्गार के वियोग पक्ष का चित्रण हमें उस स्थल पर देखने को मिलता है जब परम प्रेयसी सीता को वनवास देने के उपरान्त राम उसके वियोग में बहुत दुःखी हो उठते हैं। महावीरचरित तथा उत्तररामचरित में कुछ स्थलों पर वीर रस और रौद्र रस की अभिव्यंजना बहुत सफल हुई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है जिसमें लव की वीरता का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है—

ज्याजिह्वया बलचितोत्कटकोटिदंष्ट्रं मुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र—जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम्॥

इसी प्रकार से महावीरचरित में परशुराम द्वारा कथित निम्नलिखित रौद्र व्यंजक उक्ति रौद्र रस की अभिव्यंजना में पूर्णतः समर्थ है—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ यावद्विशलितयकृत्क्लोमदृक्कास्त्रगात्रः
स्नायुग्रन्थ्यस्थिशल्कव्यतिकरतिजरत्कन्धरादत्तखण्डः ।
मूर्धच्छेदादुदंचद्गलधमनिशिरासक्तडिण्डीरपिण्ड—
प्रायासृग्भारघोरं पशुमिव परशुः पर्ववस्त्वां शृणातु ॥

वीर तथा रौद्र रस के समान वीभत्स रस के चित्रण में भी भवभूति अत्यन्त दक्ष हैं। संस्कृत साहित्य में वीभत्स रस का चित्रण बहुत अल्प मात्रा में उपलब्ध होता है. किन्तु भवभूति ने इस क्षेत्र में भी कमाल का कौशल दिखलाया है। मालती-माधव के पाँचवें अंक में श्मशान भूमि के प्रेतों का जो चित्रण किया गया है वह निस्सन्देह वीभत्स रस की चर्वणा कराने में पर्याप्त समर्थ है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिंडाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।

वस्तुतः भवभूति के काव्य का अंगी रस करुण ही है। इस क्षेत्र में उनकी समानता करने वाला कोई अन्य कवि नहीं है। गोवर्धनाचार्य ने उनके करुण रस की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा !!

'उत्तररामचरित्' करुण रस की व्यञ्जना करने वाली सर्वश्रेष्ठ कृति है। भवभूति की यह कृति यों तो आद्यांत करुण रस से आपूर्ण है किन्तु इसका तीसरा अंक तो जैसे करुण रस का अगाध सागर ही है। इस अंक में करुण रस की जैसी मार्मिक और गम्भीर व्यञ्जना हुई है वैसी शायद ही अन्यत्र हुई हो। वस्तुतः भवभूति का करुण रस उस पुटपाक के सदृश है

जिसके भीतर तीव्र अन्तर्वेदना प्रज्वलित हो रही है। यह वेदना अंतस्तल में अनी के समान चुभ कर दारुण वेदना तो उत्पन्न करती है लेकिन अमर्यादित उद्वेग अथवा अनर्गल प्रलाप का रूप कभी धारण नहीं करती।

भवभूति ने जिस प्रकार से रस-योजना के क्षेत्र में कोमल तथा कठोर दोनों ही रसों को अपनाया है उसी प्रकार से प्रकृति के दोनों रूपों—कोमल और कठोर—को देखने में भी उनकी दृष्टि चूकी नहीं है। वस्तुतः उनकी दृष्टि इतनी पैनी है कि जहाँ वे एक ओर कमल-वनों को कम्पायमान करने वाले मल्लिकाक्ष हंसों अथवा वृक्ष की शाखाओं पर झूमते शकुन्तों की कोमल भंगिमा को निहारते हैं वहाँ दूसरी ओर प्रचण्ड-ग्रीष्म-ऋतु में अजगर के पसीने को पीते हुए प्यासे गिरगिटों को देखना भी नहीं चूकते। इसी प्रकार से दण्डकारण्य का चित्रण करते समय उन्होंने उसके दोनों रूपों—कोमल एवं कठोर—का चित्रण किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भवभूति के नाटकों की समीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने पात्रों के व्यक्तित्व तथा चरित्र को प्रस्फुटित करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। फलतः उनके अधिकांश पात्र नाटक के कार्य का निर्वाह मात्र करते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महावीरचरित् नाम्नी कृति अत्यन्त दुर्बल रचना है किन्तु इस दृष्टि से तो 'उत्तररामचरित्' के रतिपय चरित्र निस्संदेह अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़े हैं। राम, सीता, जनक तथा कौशल्या उत्तररामचरित् के ऐसे पात्र हैं जिनका चरित्र अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ा है।

भाषा पर भवभूति का असाधारण अधिकार दृष्टिगत होता है। अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग करने में वे सिद्धहस्त हैं। यदि भयंकर युद्ध वर्णन के समय वे दीर्घकाय समासों से युक्त तथा ओजगुण से सम्पन्न क्लिष्ट पद्यों की रचना करते हैं तो सुकुमार भावों की व्यञ्जना करते समय समासरहित सरल एवं मधुर पदावली का प्रयोग करते हैं। वे जिस सरलता से 'कूजत्क्लान्त कपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः' जैसी समासबहुला क्लिष्ट

पदावली का प्रयोग करते हैं उसी सरलता से 'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े' के समान सरल एवं समास रहित पदावली की योजना भी करते हैं। कभी-कभी तो उनकी इस भाषा-निपुणता का परिचय एक ही पद्य में उपलब्ध हो जाता है जब वे कोमल भावों के प्रकाशन के लिए वैदर्भी रीति की कोमलकांत पदावली का आश्रय लेते हैं तो उत्तरार्ध में वीरोल्लास की भावना को व्यञ्जित करने के लिए गौड़ी की गाढ़बंधना का आश्रय लेते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

यथेन्दावानन्द व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टि मर्म कलहकामः पुनरयम्।
झणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु—
र्धृतप्रेमा बाहुर्विमचविकरालोल्वण रसः॥

वस्तुतः भवभूति के ऐसे वर्णनों को पढ़ने के उपरांत ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा उनकी चेरी है, वह उसे जैसा चाहते हैं मोड़ लेते हैं, उसकी यह सामर्थ्य नहीं कि उनके सामने चूं-चपड़ कर सके।

भवभूति व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा आदि विभिन्न शास्त्रों के प्रकाण्ड ज्ञाता थे। फलतः उनकी प्रसिद्ध रचना 'उत्तररामचरित्' में ऐसे शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है जो अमरकोष तक में उपलब्ध नहीं होते। 'आकूत', 'उत्पीड', 'कन्दल', 'कुम्भीनस', 'प्रतिसूर्यक आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं।

शैली का आदर्श बतलाते हुए भवभूति ने कहा है—

यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥

अर्थात् भाषा का प्रौढ़त्व, व्यञ्जना-प्रणाली का औदार्य और अर्थगौरव ही पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य के परिचायक हैं। यदि भवभूति की रचनाओं को इस कसौटी पर कसा जाए तो वे निस्संदेह खरी उतरेंगी। उनकी भाषा में प्रौढ़ता, शब्द-विन्यास में प्राञ्जलता तथा भावों में गरिमा के दर्शन होते हैं।

परंपराभुक्त प्रणाली का अनुगमन न कर नवीन एवं मौलिक कल्पनाओं का उद्भावना करते हैं। वे किसी अवस्था-विशेष अथवा भाव-विशेष का ऐसा सजीव तथा क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत करते हैं कि पाठक के समक्ष चित्र सा समुपस्थित हो जाता है। कभी-कभी तो वे इतनी गहराई तक पहुँचते हैं कि अंतस्तल में उठने वाले विभिन्न भावों को एक ही पद्य में उपस्थित कर देते हैं। उत्तररामचरित् के तृतीय अंक का निम्नलिखित श्लोक ऐसा ही श्लोक है जिसमें कवि ने इस तथ्य का अंकन किया है कि बारह वर्ष के दीर्घ वियोग के उपरांत दण्डकारण्य में अपने प्राणनाथ राम का साक्षात्कार करते समय सीता के अंतस्तल में कितने विभिन्न प्रकार के भावों का संचार हो रहा था—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकारणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयस्मिन् क्षण वन॥

भवभूति की शैली को एक अन्य विशेषता यह है कि वे अपने पद्यों में भी अर्थानुकूल ध्वनि उत्पन्न करने में भी समर्थ हैं। उनके शब्दों में प्रतिपाद्य विषय की झंकार स्पष्ट सुनी जा सकती है। जिस समय वे तूफान अथवा रणक्षेत्र के भयावह दृश्यों का शब्दांकन करते हैं उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो वास्तव में तूफान आ गया है अथवा रण-भूमि में युद्ध हो रहा है।

भवभूति ने अपनी शैली में कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्यात्मक शैली का आश्रय भी लिया है। लेकिन उनकी हास्य-व्यंग्यात्मक शैली की विशेषता यह है कि उसमें कहीं पर भी अशिष्टता नहीं आने पाई है। उनके व्यंग्य बहुत मार्मिक तथा हास्य बहुत शिष्ट हैं। उनका गंभीर हास्य स्मित की सीमाओं तक ही सीमित रहता है।

भवभूति ने छन्दों के प्रयोग में भी बहुत सतर्कता एवं प्रवीणता दिखलाई है। शिखरिणी छन्द तो उन्हें विशेष रूप से प्रिय है। क्षेमेंद्र ने उनके इस छन्द की प्रशंसा भी बहुत की है—

भवभूतेः शिखरिणी निर्णलतरङ्गिणी ।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ।।

अन्ततः कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। डा० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में, "भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अन्तःप्रकृति तथा वाह्यप्रकृति के कोमल और विकट दोनों रूपों का ग्रहण करने की क्षमता रखता है, भवभूति वह 'श्रीकण्ठ' है, जिसने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विष की तिक्तता दोनों को—जीवन के उल्लासमय तथा वेदनाव्यथित दोनों तरह के पहलुओं को सहर्ष अंगीकार किया है।"

प्रश्न २५—संस्कृत नाट्य साहित्य की विशेषताओं पर एक विवेचनात्मक लेख लिखिए।

नाट्य साहित्य संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक महत्वशाली अङ्ग है। इतना ही नहीं विश्व साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली प्रथम कृति कालिदास कृत "शाकुन्तलम्" ही थी। केवल शाकुन्तलम् ही नहीं भास, भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक, भट्टनारायण आदि अन्य नाटककारों की रचनाओं में भी इसी प्रकार की अन्य विशेषताएँ भरी पड़ी हैं। संक्षेपतः वे विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) संस्कृत नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे दुःखान्त न होकर सुखान्त होते हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनमें दुःखद घटनाओं के संयोजन के लिए स्थान ही नहीं है। वस्तुतः संस्कृत नाटकों में वहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं जो दुःखप्रद और करुणाजनक हैं। उत्तररामचरित, वेणीसंहार और नागानन्द में इस प्रकार के अनेक दृश्य हैं। यदि नाटककार अपनी असाधारण मेधा से इनको सुखान्त न बना देते तो ये दृश्य इन नाटकों को दुःखान्त बना देते।

संस्कृत साहित्य में अपवाद स्वरूप एक दो ऐसे नाटकों की उपलब्धि भी होती है जो सुखान्त न होकर दुःखान्त हैं यथा उरुभंग और वेणीसंहार आदि।

(२) संस्कृत नाटकों की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे रस प्रधान होते हैं। उनमें प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में रस-विशेष का संचार करने की ओर जितना ध्यान दिया गया है उतना वास्तविकता अथवा कथा-वस्तु की यथार्थता की ओर नहीं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संस्कृत नाटकों में वास्तविकता के लिए कोई स्थान नहीं है। वास्तव में संस्कृत नाटकों का ही नहीं अपितु समस्त संस्कृत साहित्य का लक्ष्य ही आदर्श और यथार्थ का समन्वय प्रस्तुत करना है।

(३) संस्कृत नाटकों की तीसरी विशेषता यह है कि प्रायः वे रामायण या महाभारत के उपाख्यानों पर आधृत हैं। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथानक को लेकर कवियों ने प्रायः मूल कथा में कोई परिवर्तन नहीं किया है, यद्यपि कालिदास और भवभूति प्रभृति नाटककार इसके अपवाद हैं। कुछ नाटककारों ने काल्पनिक कथाओं का संयोजन भी किया है किन्तु केवल शूद्रक ही ऐसे नाट्यप्रणेता हैं जिन्होंने इस दिशा में पूर्ण सफलता की प्राप्ति की है। उन्होंने अपनी रचना में प्रेम-कथा और राजनीतिक-कथा का सुन्दर सम्मिश्रण कर दिया है। संस्कृत नाटकों की कथानक सम्बन्धी एक अन्य विशेषता यह है कि साधारणतया उनका विषय प्रेम-कथा है।

(४) संस्कृत नाट्य साहित्य की चौथी विशेषता यह है कि उनमें पद्य भाग अधिक होता है। गद्य भाग केवल सम्वादों में ही यत्र-तत्र प्रयुक्त होता है और वह भी आगे आने वाले पद्य श्लोकों की भूमिका का काम करता है। ये पद्य विभिन्न छन्दों में होते हैं और कवि की काव्य कुशलता के परिचायक होते हैं।

(५) संस्कृत नाट्य साहित्य की पाँचवीं विशेषता यह है कि उनमें पात्रों की संख्या निश्चित नहीं होती। इतना ही नहीं किसी भी नाटक में लौकिक, दिव्य अथवा अर्धदिव्य इनमें से किसी भी प्रकार के पात्र हो सकते हैं या फिर इनका मिश्रित रूप। किन्तु संस्कृत नाट्य साहित्य के पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वे व्यक्तिमूलक (Individual) न होकर वर्गमूलक

(Typical) होते हैं। इसी प्रकार से संस्कृत नाटकों में नायक, प्रतिनायक विदूपक, भृत्य आदि पुरुप पात्रों का होना आवश्यक है। यही अवस्था स्त्री पात्रों की भी है। नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीर-ललित और धीर शान्त। नाटक में इन्हीं में से किसी एक प्रकार का नायक होना चाहिए। इस नायक की विजय दिखाना ही नाटककार का प्रमुख लक्ष्य होता है। उसका पहले से ही निर्णय होता है कि नायक का पतन नहीं होना चाहिए और जैसे भी हो उसकी विजय-पताका फहरनी चाहिए। इस प्रकार से यह सिद्ध है कि संस्कृत नाटकों में नायक को दबाकर प्रतिनायक विजयी नहीं हो सकता है। विदूपक कोई ब्राह्मण व्यक्ति ही होता है।

(६) संस्कृत नाटकों की छठी विशेपता यह है कि पात्र अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार विभिन्न भापाओं का प्रयोग करते हैं। नायक तथा उच्चवर्ग के पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं। निम्न श्रेणी के लोग और स्त्री पात्र प्राकृत में ही बोलते हैं। प्राकृत के प्रयोग में भी पुनः भेद किए गए हैं यथा उत्तम श्रेणी की स्त्रियाँ पद्यों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग करती हैं तथा गद्य में वे स्त्रियाँ, बालक तथा अच्छी श्रेणी के सेवक शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। राजगृह के अनुचर मागधी तथा दुष्ट और द्यूत-क्रीड़ा करने वाले अवन्ती का प्रयोग करते हैं। गोपाल आभीरी का प्रयोग करते हैं और अग्नि के अंगार जलाने वाले पैशाची का प्रयोग करते हैं। सबसे नीच, अत्यन्त घृणित लोग और विदेशी अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं। संक्षेपतः पात्र अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार ही विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग करता है।

(७) संस्कृत नाटकों की सातवीं विशेषता यह है कि प्रत्येक नाटक का श्रीगणेश इष्टदेवता के स्तुतिपाठ से होता है, जिसे नान्दीपाठ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके बाद प्रस्तावना होती है। प्रस्तावना में सूत्र-धार, नटी, विदूपक अथवा परिपार्श्वक के साथ बातचीत करता हुआ नाटक की कथावस्तु और कवि का संक्षिप्त परिचय देकर नाटक का आरंभ कराता है। अंक की समाप्ति तक रंगमंच कभी खाली नहीं रहता। प्रथम अंक के

आरम्भ में अथवा दो अंकों के बीच में प्रवेशक या विष्कम्भक नाम से एक तरह की भूमिका होती है जिसमें उन घटनाओं का वर्णन किया जाता है जो उनके सामने रंगमंच पर घटित न होकर नेपथ्य में घटित हुई हैं। यह इसलिए कि वे अगली घटनाओं को अच्छी तरह समझने में समर्थ हो जाएँ। संस्कृत नाटक में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं। अन्त भरतोक्ति के द्वारा होता है जिसमें देश या समाज की उन्नति की कामना निहित होती है।

(८) संस्कृत नाटकों की आठवीं विशेषता यह है कि उनका प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्राकृतिक-सुषमा नाटक की रमणीयता में वृद्धि करती है। पात्र अपने चारों ओर की प्रकृति से साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। वृक्ष, लताएँ, पशु-पक्षी आदि सभी रूपक के सजीव अंग हैं जिनसे पात्र वार्तालाप करते हैं और जिनके बीच पात्र चलते-फिरते हैं। कालिदास की शकुंतला चमेली की लता, वृक्ष, हरिण आदि को अपना साथी मानती है। उसे वृक्षों से वन देवताओं के दिए हुए भूषण, वस्त्र आदि प्राप्त होते है। कण्व ऋषि वृक्षों से शकुन्तला के लिए अपने पति के घर जाने के लिए आज्ञा माँगते हैं और कोयल की बोली द्वारा वृक्ष जाने की आज्ञा देते हैं आदि।

(९) संस्कृत नाट्य साहित्य की नवीं विशेपता यह हैं कि उसमें काल, स्थान और क्रिया सम्बन्धी संकलनत्रय का पूर्णतया पालन नहीं हुआ है। वहाँ तो कथानक की एकता की ओर ही मुख्यतः ध्यान रक्खा गया है।

(१०) संस्कृत साहित्य में प्रायः सुखान्त नाटक ही देखने को मिलते हैं, दुखान्त नहीं। सुखान्त नाटकों के आधिपत्य और दुःखान्त नाटकों की विरलता का कारण यह है कि संस्कृत नाटककार नाटक का मूल उद्देश्य लोकरजन समझते थे। जनमात्र के लिए आमोद और मनोरंजन प्रदान करना तथा दुःख पीड़ित और शोकग्रस्तों को शान्ति प्रदान करना ही संस्कृत नाटककार का परम लक्ष्य था। फलतः उन्होंने मानव जीवन की उन सभी घटनाओं को सुबोध तथा विश्वसनीय ढंग से इस रूप में प्रस्तुत किया कि वे

दर्शक को आनन्द प्रदान कर सकें क्योंकि किसी नाटक का अवसान दुःखमूलक होने पर तो इस उद्देश्य की पूर्ति न होती। ऐसी अवस्था में तो सामाजिक लोग दुःखी और शोकाकुल होकर ही रंगशाला से बाहर निकलते और रचना का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाता। इसके अतिरिक्त भारतीय पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को मानते हैं अतः इनके लिए मृत्यु इतनी दुःखप्रद घटना नहीं है जितनी पाश्चात्य लोगों के लिए।

(११) संस्कृत नाटच शास्त्र में नाटक के अभिनय सम्बन्धी अनेक संकेत भी दिए हुए हैं यथा रंगशाला के सम्बन्ध में उनका विचार है कि वह वर्गाकार आयताकार या त्रिभुजाकार होनी चाहिए। इसी प्रकार से नाट्य शास्त्र में नाटक खेलने के समयों का भी विधान है। वे समय हैं—चान्द्रिक अन्ध्याय, राजतिलक, जनता के उत्सव, धार्मिक पर्व, विवाह, पुत्र-जन्म, मित्र-मिलन, गृह-प्रवेश या नगर-विजय। इतना ही नहीं कौन-कौन से दृश्य अभिनीत किए जा सकते हैं और कौन से नहीं इस बात का आलेखन भी हमें संस्कृत नाट्य-शास्त्र में मिलता है। उनका सिद्धान्त है कि कोई बहुत दुःखदायक घटना रंगमंच पर नहीं दिखाई जा सकती है यथा मृत्यु रंगमंच पर नहीं दिखाई जाती है। रंचमंच पर वध, युद्ध, विवाह, भोजन, अशुभ अथवा व्रीड़ाजनक व्यापार जैसे चुम्बन आदि का अभिनय निषिद्ध माना गया है।

(१२) संस्कृत नाटकों की बारहवीं और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी कुछ विशेषताएँ यूनानी रूपकों के समान हैं। इतना ही नहीं रानी एलिजावेथ के समय में निर्मित और शेक्सपीयर द्वारा निश्चित अंग्रेजी रूपकों से भी कुछ समानताएँ मेल खा जाती हैं यथा—

(क) संस्कृत नाटकों का विदूषक शेक्सपीयर के मूर्ख के समान है।

(ख) कल्पित विषयों का समावेश तथा गद्य-पद्य का मिश्रण और हास्य तथा गम्भीर विषयों का मेल संस्कृत रूपकों में भी पाया जाता है।

(ग) जिस प्रकार से अंग्रेजी नाटकों में बहुत वर्षो की घटनाएँ एक ही नाटक में अभिनीत की जाती हैं ठीक उसी प्रकार से संस्कृत नाटकों में भी।

उदाहरण के लिए संस्कृत के उत्तररामचरित आदि रूपकों में १२ वर्षों की और बहुत दूर-दूर की घटनाएँ दी गई हैं।

(घ) रूपक की क्रिया बढ़ाने के लिए जो उपाय किए जाते हैं वे भी दोनों में समान ही हैं। पत्रों का लिखना, भूत को जीवित करना और कहानी में कहानी भरना आदि बातें दोनों ही भाषाओं के नाट्य साहित्य में समान हैं।

(ङ) काल्पनिक और भयंकर अंशों का समावेश भी हमें दोनों ही भाषाओं में नाट्य-साहित्य के समान रूप से देखने को मिलता है।

(च) श्लेषालंकार का प्रयोग तथा शब्दों की हास्योत्पादक तोड़-मरोड़ भी दोनों में समान ही है।

(छ) पात्रों के वर्गगत चरित्र-चित्रण की अपेक्षा व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण का भी व्यापक मात्रा में समावेश हमें दोनों ही रचनाओं की भाषाओं में देखने को मिलता है।



६

गद्य-साहित्य

प्रश्न २६—संस्कृत में गद्य साहित्य का उद्भव और विकास विषय पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

विश्व साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने पर गद्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम संस्कृत साहित्य में ही देखने को मिलती है। वस्तुतः संस्कृत गद्य सब गद्यों में प्राचीनतम है। विकासक्रम की दृष्टि से संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम गद्य यजुर्वेद और अथर्ववेद में देखने को मिलता है। यह गद्य प्रारम्भिक दशा में है तथा सरल एवं साधारणतया अनलंकृत है।

वैदिक गद्य का विकसित रूप ब्राह्मण ग्रंथों में दृष्टिगत होता है। इन ग्रंथों में अनेकों कथाएँ आई हैं जो रोचक तथा उपदेशात्मक हैं। इनकी भाषा सरल और स्पष्ट है। शेष भाग का गद्य अपक्व, भद्दा, गड़बड़ और अधूरा है। आरण्यकों में भी ऐसे ही गद्य के दर्शन होते हैं।

संस्कृत गद्य की अगली स्थिति उपनिषदों में देखने को मिलती है। इन उपनिषदों में से कुछ गद्य में, कुछ पद्य में और कुछ मिश्रित हैं। इनका गद्य सरल और ऋजु है। भाव-प्रकाशन की शैली सुगम है तथा भावों में गम्भीरता पाई जाती है।

सूत्रों में गद्य का विचित्र स्वरूप पाया जाता है। इनमें किसी भी बात को कहने के लिए बहुत थोड़े शब्दों की सहायता ली गई है। इन्हें बिना टीका के समझना कठिन है। इनका लक्षण है—'स्वल्पाक्षरम् संदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।'

लौकिक संस्कृत के गद्य का प्रारम्भिक रूप महाभारत में दृष्टिगत होता है। यह गद्य सरल, सुन्दर और रोचक है। यद्यपि अनेक स्थलों पर यह गद्य अलंकृत भी है किन्तु इसका विशेष गुण स्वाभाविकता है।

संस्कृत देश की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक भाषा थी। इसीलिए हमें कौटिल्य विरचित अर्थशास्त्र, अनेकों शिलालेख तथा महाभाष्य जैसे व्याकरण ग्रन्थ आदि में भी गद्य का प्रयोग दृष्टिगत होता है। कौटिल्य में सूत्रवत् भाषा तथा महाभाष्य में प्रांजल और मनमोहक भाषा के दर्शन होते हैं। शिलालेखों में काव्य-शैली का प्रयोग दृष्टव्य है।

संस्कृत के प्रभाव से बाधित हो परवर्ती-काल में बौद्धों ने भी अपने ग्रन्थों को संस्कृत में ही लिखा। इन ग्रन्थों की शैली मूलतः वैदर्भी है किन्तु गौड़ी की ओर झुकी हुई है। भाव गम्भीर और वर्णन विशद है। अलंकारों का सुन्दर सन्निवेश है परन्तु भाषा में यत्र-तत्र उच्छृंखलता पाई जाती है।

पुराणों का गद्य सरल कोटि का है किन्तु कहीं-कहीं पर सौन्दर्य अच्छा बन पाया है। दार्शनिक स्थल कुछ जटिल हो गए हैं।

साहित्यकारों तथा दार्शनिकों आदि ने जो गद्य लिखा है वह अत्यन्त जटिल और पारिभाषिक तथा बाल की खाल खींचने वाला है। उसमें रोचकता नाममात्र को भी नहीं है।

साहित्यिक ग्रन्थों में जो गद्य नाटकों और आख्यानों आदि में आया है वह यद्यपि सुन्दर, सरल, मधुर, रोचक और अलंकृत है तो भी उसे गद्य-काव्य की कोटि का नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यहाँ पर कवि का उद्देश्य गद्य काव्य की छटा का प्रकाशन करना नहीं है। हाँ, चंपू-ग्रन्थों को गद्य काव्य की कोटि में रक्खा जा सकता है।

"गद्य काव्य की जो शैली पीछे सुबन्धु और बाण के ग्रन्थों में विकसित रूप में मिलती है उसका प्रारूप वत्सभट्टी के शिलालेख और हरिषेण की प्रशस्ति में देखा जा सकता है। इन लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि इस शैली का विकास पर्याप्त पहले हो चुका होगा।

गद्य काव्यों में उपलब्ध प्राचीनतम कृति सुबन्धु कृत वासवदत्ता है। यह छठी शताब्दी के अन्तिम समय में लिखी गई है। इसमें वासवदत्ता और कन्दर्पकेतु की प्रेम-कथा का चित्रण है। श्लेष ने इसको क्लिष्ट बना दिया है यद्यपि कवि इसमें गौरव अनुभव कर सकता है—'प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रबन्ध-विन्यास वैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्।' इस ग्रंथ में भाव अल्प हैं, वर्णन अधिक। शब्द-जंजाल ने काव्य को फीका और रसहीन बना दिया है। इसकी रीति गौड़ी है। वस्तुतः गद्य-काव्य के लिए यही शैली उपयुक्त मानी गई है। दण्डी का तो कथन ही है—'ओजः समास भूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।'

सुबन्धु के वासवदत्ता से यह स्पष्ट है कि इससे पूर्व अनेकों गद्य-काव्य लिखे जा चुके होंगे क्योंकि इतनी विकसित शैली का यह काव्य किसी भी प्रकार से पहला काव्य नहीं माना जा सकता। दण्डी के काव्यादर्श के कथा और आख्यायिका के विवेचन से भी यही परिणाम निकलता है।

अब हमें बाण की प्रौढ़ रचनाएँ हर्षचरित और कादम्बरी मिलती हैं। दोनों बड़ी भावपूर्ण और रसमय हैं। वर्णनों का आधिक्य है। शब्दावली भावानुगामिनी है। अलंकारों की छटा ध्यातव्य है। बाण को गद्य लेखकों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इनका समय सातवीं शताब्दी का मध्य भाग है।

दशकुमार चरित में दण्डी ने नई शैली का अनुसरण किया है। वे वैदर्भी के लेखक हैं। पदावली सरस, मधुर, कोमल और भावाभिव्यंजका है। पद-लालित्य अनुपम है। अलंकारों की विशेषतः अनुप्रास और यमक की छटा दर्शनीय है। भाव-गाम्भीर्य और रोचकता पर्याप्त मात्रा में है परन्तु काव्य में अश्लीलता है। दण्डी का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

धनपाल की तिलक-मंजरी ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में लिखी गई। इसमें तिलक-मंजरी और हरिवाहन समरकेतु के प्रेम की कथा है। यद्यपि इसमें बाण का अनुकरण करने का प्रयत्न स्पष्ट है तो भी इसमें कादम्बरी की उच्चता, सौन्दर्य और प्रवाह का सर्वथा अभाव है।

इसके अतिरिक्त भट्टार हरिचन्द्र और शीलाभट्टारिका आदि कुछ अन्य गद्य लेखकों की भी ओर संकेत पाए जाते हैं परन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। ग्यारहवीं शताब्दी के उपरान्त जो गद्य-काव्य लिखे गए वे आधुनिक काल में गिने जाते हैं साथ ही उनमें पहले काव्यों की सी सजीवता सी नहीं मिलती है।

अनेन प्रकारेण हम कह सकते हैं कि संस्कृत गद्य साहित्य अति प्राचीन समय से चला आ रहा है किन्तु इतना होने पर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि मात्रा की दृष्टि से उपलब्ध ग्रन्थ गिने चुने ही हैं। इसके भी दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि देश की अक्षय निधि साहित्य दुष्टों द्वारा जला कर भस्म कर दी गई जिससे असंख्य अनमोल रत्न सदा के लिए दुष्प्राप्य हैं, केवल दुष्प्राप्य ही नहीं अप्राप्य हैं। दूसरा कारण यह है कि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार गद्य-काव्य लिखना उतना सरल नहीं था जितना पद्य-काव्य। अतः गद्य के लेखक कम ही मिलते थे। गद्य साहित्य की विरलता का सम्भवतः एक कारण यह भी रहा होगा कि पद्य में जो मादकता और श्रुति-माधुर्य मिलता है वैसा गद्य में सम्भव नहीं। पद्य को याद करने में सरलता होती थी और गद्य में यह गुण नहीं था। छापेखाने न होने से इस बात का महत्व और बढ़ जाता है। साथ ही समास-बाहुल्य आदि के कारण गद्य काव्य को समझना भी सरल न था, अतः यदि गद्य काव्य लिखने की ओर कवियों की प्रवृत्ति कम रही हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

प्रश्न २७—निम्नलिखित का काल निर्णय कीजिये—

(क) दण्डी।

(ख) सुबन्धु।

(ग) बाण।

दण्डी—दण्डी की तिथि विवादास्पद तथा अन्धकार के आवरण से आच्छन्न है। इस ओर सर्वप्रथम प्रयास स्व० प्रो० विलसन ने किया था। उन्होंने इनका रचनाकाल ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना था। उनके अनुसार दशकुमार चरित में आए हुए भवनों

और भोज वंशों के उल्लेख तिथि-निर्णायक हैं। किन्तु वस्तुतः श्री विलसन की उक्तियों में बल नहीं है। यवनों के उल्लेख से केवल यही सिद्ध होता है कि दण्डी मुस्लिम विजय से पूर्व हुए हैं। परन्तु कितने पहले, यह पता नहीं। फिर संस्कृत साहित्य में यवन शब्द ग्रीक आदि अनेक विदेशी जातियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः यवनों का उल्लेख तिथि-निर्णय में सहायक नहीं। इसी प्रकार से भोज एक वंश का नाम है। कालिदास ने भी भोज का उल्लेख किया है और महाभारत में भी भोज का वर्णन है। अतः दण्डी का संकेत किस काल के भोजवंशीय राजा की ओर है, यह ज्ञात नहीं। अतः श्री विलसन का मत माननीय नहीं।

श्री अगाशे के अनुसार दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'दशकुमार चरित' की रचना ११वीं या १२वीं शताब्दी में की क्योंकि १०वीं शताब्दी से पूर्व दशकुमार चरित का उल्लेख किसी संस्कृत के लेखक ने नहीं किया है। नृपतुङ्ग ने भी बाण की तो प्रशंसा की है किन्तु दण्डी की नहीं। परन्तु इस युक्ति में भी सार नहीं क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि पीछे आने वाले लेखक अपने पूर्ववर्ती सभी लेखकों की ओर निर्देश करें अथवा वे उन सब की कृतियों से उद्धरण दें। अतः इस मत को मानना सम्भव नहीं।

दशकुमार चरित में भी वर्णित सामाजिक स्थिति इस समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डालती। ठीक इसी प्रकार की सामाजिक अवस्था शूद्रक के मृच्छकटिक में मिलती है। राजनैतिक और भौगोलिक वर्णन भी यही सिद्ध करते हैं कि यह पुस्तक मुसलमानों के आने से पूर्व की है।

दण्डी के नाम का उल्लेख नवीं शताब्दी के ग्रन्थों में मिलता है अतः यह निश्चित है कि नवीं शताब्दी तक दण्डी अपने काव्य का प्रणयन कर चुके होंगे।

श्री काले के मतानुसार दण्डी आचार्य वामन के पूर्ववर्ती हैं। वामन का समय ८वीं शताब्दी का पिछला भाग है अतः वे मानते हैं कि दण्डी की तिथि की निचली सीमा ८वी शताब्दी का पूर्वार्ध है।

वस्तुतः दण्डी का काल-निर्णय काव्यादर्श के आधार पर ही किया जा सकता है। और इसके आधार पर दण्डी का काल ६५० ई० के आसपास ठहरता है क्योंकि पाँचवीं शताब्दी ई० के राजा प्रवरसेन द्वारा रचित सेतुबन्ध नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख दण्डी के काव्यादर्श में है।

सुबन्धु—इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है किन्तु फिर भी निम्न तथ्यों के आधार पर इनका रचना-काल सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ निर्धारित किया गया है—

(१) ११६८ ई० के एक कन्नड़ी शिलालेख में सुबन्धु के काव्य की प्रशंसा की गई है। इससे सिद्ध है कि सुबन्धु ११६८ ई० के पूर्ववर्त्ती हैं।

(२) वामन जिनका रचनाकाल ८०० ई० है अपनी प्रसिद्ध पुस्तक काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में सुबन्धु कृत वासवदत्ता और बाण कृत कादम्बरी से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि सुबन्धु ८०० ई० के पूर्व हुए।

(३) कविराज ने अपनी पुस्तक राघव-पिण्डीय में सुबन्धु, बाण और अपने आपको वक्रोक्ति में कुशल बतलाया है। उनका कथन है—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणश्चतुर्थो विद्यते नवा॥

इस पद के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि जो पहले हुआ उसका नाम पहले लिया गया और जो बाद में हुआ उसका नाम बाद में लिया गया। कहने का अभिप्राय यह है कि यह पद स्पष्टरूपेण इस तथ्य की ओर उन्मुख करता है कि सुबन्धु का रचनाकाल बाण से पूर्ववर्त्ती है। बाण का रचनाकाल ६२५ ई० से ६४५ ई० के मध्य में है। अतः कहा जा सकता है कि सुबन्धु का रचनाकाल ६२५ ई० से पूर्व का है।

(४) कीथ के मतानुसार सुबन्धु ने अपनी कृति में 'उद्योतकर' और 'बौद्ध संगत्यलंकार' नामक ग्रंथों का संकेत किया है। इनका समय ७वीं शताब्दी

का प्रारम्भ था। इससे सिद्ध होता है कि सुबन्धु सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ के पूर्ववर्ती थे।

(५) बाण ने अपने हर्षचरित में वासवदत्ता का उल्लेख किया है। बाण का समय ६२५ से ६४५ ई० निश्चित है। अतः सुबन्धु बाण के पूर्ववर्त्ती हैं।

बाण—सम्राट् हर्षवर्धन के सभापण्डित होने के कारण बाणभट्ट का स्थितिकाल निर्धारित करते समय किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। सम्राट् का राज्याभिषेक ६०६ ई० माना जाता है और उनका स्वर्गवास ६४८ ई० में। ये तिथियाँ ताम्रदान-पत्रों तथा ६२९ से ६४५ ई० तक भारत में भ्रमणार्थ आए हुए चीनी यात्री ह्वेनसांग के संस्मरणों के आधार पर भी स्वीकृत हो चुकी हैं। फलतः बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था।

यदि बाण के हर्ष के समकालिक होने का वृत्तान्त न भी ज्ञात होता तो भी अन्य बहिरंग एवं अन्तरंग प्रमाणों से बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी में होना ही सिद्ध होता। रुय्यक ने जिनका रचनाकाल ११५० ई० है अपने अलंकार सर्वस्व में बाण का नामोल्लेख अनेक बार किया है। इसी प्रकार से क्षेमेन्द्र भी जिनका रचनाकाल १०५० ई० है अपनी रचनाओं में बाण का नामोल्लेख करते हैं। रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) भी कादम्बरी तथा हर्षचरित नामक पुस्तकों में से कथा तथा आख्यायिका के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार से १०२५ ई० में हुए भोज बाण के पद्य की अपेक्षा उनके गद्य को अधिक श्रेष्ठ बतलाते हैं। धनंजय (१००० ई०) अपनी पुस्तक 'दशरूपक' में बाण को उल्लेख इस प्रकार करते हैं—'यथा हि महाश्वताभंट्ट वर्णनावसरे स्था बाण'। आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने अपनी प्रमुख कृति 'ध्वन्यालोक' में तथा वामन ने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में बाण की रचना का उल्लेख किया है। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक निरन्तर सभी प्रसिद्ध लेखकों

ने बाण की रचनाओं का नामोल्लेख किया है। फलतः बाण का स्थिति काल सातवी शताब्दी पूर्वार्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

केवल बहिरंग प्रमाणों के आधार पर ही नहीं अपितु अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर भी बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही ठहरता है। उन्होंने अपने 'हर्षचरित' के प्रारम्भिक पद्यों में अनेक कवियों एवं कृतियों का उल्लेख किया है। व्यास, वासवदत्ता, भट्टार हरिचन्द, सातवाहन, प्रवरसेन कृत सेतुबन्ध, भास, कालिदास, वृहत्कथा और आढ्यराज आदि कवि और कृति उन्हीं में से कुछेक हैं। इन सभी कृतियों एवं लेखकों के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि किसी एक का भी रचनाकाल सातवीं शताब्दी के बाद का नहीं है। अतः बाण का रचनाकाल इनके बाद ही होना चाहिए। बाण अपने 'हर्षचरित' में लिखते हैं कि हर्ष ने अपना समस्त धन-वैभव ब्राह्मणों एवं बौद्ध भिक्षुओं को दान कर दिया था। ह्वेनसांग ऐसे एक अवसर पर ६४३ ई० में उपस्थित था। अतः बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही होना चाहिए।

प्रश्न २८—निम्नलिखित की काव्य-कला पर प्रकाश डालिए—

(क) दण्डी।

(ख) सुबन्धु।

(ग) बाण।

दण्डी—संस्कृत साहित्य में दण्डी को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान की प्राप्ति हुई है जिसका अनुमान उनकी प्रशंसा में लिखे गए निम्न अवतरणों से सहज ही में लगाया जा सकता है—

(क) आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसम्पदाम्।
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणम्॥ —(गंगादेवी)

(ख) दण्डिनः पद लालित्यं।

(ग) जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवि इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

(घ) कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।

वस्तुतः काव्य-कला के विभिन्न उपकरणों का समुचित नियोजन करने में दण्डी इतने कुशल हैं कि उनके सम्बन्ध में कही गईं उपर्युद्धृत उक्तियाँ सत्य ही प्रतीत होती हैं।

दण्डी के गद्य-ग्रंथों विशेषतः दशकुमार चरित की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने युग के मध्यवर्गीय जीवन का जैसा यथार्थपूर्ण चित्र खींचा है वैसा अन्य संस्कृत लेखकों ने नहीं। उन्होंने जादूगर, चंचल तपस्वी, जैन क्षपणक, वेश्याओं, कुट्टिनियों, रागाविष्ट उत्सुक प्रेमियों और राज्यभ्रष्ट राजाओं आदि के चरित्रों का जमघट-सा लगा दिया है। उन्होंने इन सभी चरित्रों की दुर्बलताओं को अभिव्यक्त किया है। लेकिन इन सभी तथ्यों की अभिव्यंजना करते समय इन्होंने दुरुह और अरोचक पद-शैली को अपनाया है। उनके ये वर्णन न तो सुबन्धु के समान 'प्रत्यक्षरश्लेपमय' हैं और न ही बाण की भाँति 'सरसस्वरवर्ण पद' से सुशोभित साहित्यिक गद्य के आदर्श। उन्होंने तो अपने वर्णनों में प्रतिदिन काम में आने वाले गद्य का प्रयोग किया है। लम्बे-लम्बे समासों के स्थान पर छोटे-छोटे वाक्यों का ही प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं उनकी शैली विपयानुरूप परिवर्तित भी होती रहती है।

लेकिन उपर्युक्त कथन से यह न समझ लेना चाहिए कि दण्डी की शैली अनलंकृत है। अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग कवि ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। एक-दो चित्र देखिए—

यमक—कुमारा माराभिरामा रामाद्यौपौरुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसित समीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंस राजानमकार्षुः।

अनुप्रास—अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति।

उत्प्रेक्षा—चिन्तयत्येवमयि महार्णवोन्मऽवमार्तण्डतुरङ्ग श्वासरयावधूतेव व्यवर्तत त्रियामा। समुद्रगर्भ वासजड़ीकृत इव मंद प्रतापी दिवसकरः प्रादुरासीत्।

वस्तुतः दण्डी में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का समन्वित रूप बहुत सुन्दर रूप में दृष्टिगत होता है। यद्यपि कवि ने मूलतः भाव-पक्ष पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया है किन्तु उसने कला-पक्ष को भी उसने विस्मृत नहीं किया है।

सुबन्धु—काव्य-कौशल की दृष्टि से सुवन्धु अन्य गद्य कवियों बाण और दण्डी से बहुत पीछे हैं। इनके पास न तो बाण के समान अपार शब्द भण्डार, अलंकारों और कल्पनाओं की अपूर्व सूझ-बूझ, वर्णन की तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति, संगीतात्मक भाषा एवं भाव-पक्ष की तरलता देखने को मिलती है और न ही दण्डी के समान यथार्थ जीवन को ज्यों का त्यौं चित्रित करने की शक्ति ही। इनके काव्य में तो शाब्दी-क्रीड़ा के चित्र ही देखने को मिलते हैं। आनुप्रासिक चमत्कार और श्लिष्ट पद-योजना के कारण इनका काव्य अत्यन्त कठिन हो गया है। इसीलिए सहृदय पाठक इनके काव्य का अनुशीलन करते समय झुंझला उठता है। उदाहरण के लिए वासवदत्ता के विरह वर्णन से सम्बन्धित निम्न पद को देखा जा सकता है—

"सुकान्ते कान्तमति मन्दं मन्दमपनय वाष्पविन्दून्। यूथिकालंकृते यूथिके संचराय नलिनीदलतालवृन्तेनार्द्रवातान्। एहि भगवति निद्रे अनुगृहाण माम्, धिक् इन्द्रियैरपरैः किमिति लोचनमयान्येव कृतान्यङ्गानि विधिना। भगवन् कुसुमायुध तवायमंजलिः अनुवशो भव भाववति यादृशे जने। मलयानिल सुरत-महोत्सव दीक्षागुरो वह यथेष्टम् अपगता ममा प्राणाः इति बहुविधं भाषमाणा वासवदत्ता सखीजनेन समं संमुमूर्च्छ।"

अर्थात्—सखि कान्तिमति मेरे आँसुओं को धीरे-धीरे पोंछ दे। यूथिका के फूलों से अलंकृत सखि यूथिके, कमल-पत्र के पंखे से शीतल हवा कर। भगवति निद्रे! आ मेरे ऊपर कृपा कर। अन्य इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं, ब्रह्म ने मेरे शरीर में सब इन्द्रियों को नेत्र ही क्यों न बना दिया। भगवान् कुसुमायुध यह प्रणामांजलि है प्रेम के अभिप्राय वाले इस व्यक्ति पर (मुझ पर) कृपा करो। सुरतमहोत्सवदीक्षागुरु मलयानिल, खूब बहो, मेरे प्राण निकल रहे हैं, इस प्रकार अनेक उक्तियों के साथ वह मूर्च्छित हो गई।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सुवन्धु ने यहाँ पर आनुप्रासिक चमत्कार का खूब प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार से निम्न उद्धरण में श्लेष-योजना देखने को मिलती है—

"उपनिषदमिवानन्दमेकमुद्योतयन्तीम्, द्विजकुलस्थितिमिव चारुचरणाम्, विन्ध्यगिरिश्रियमिव सुनितम्बाम् तारामिव गुरुकलत्रतयोपशोभिताम्, शतकोटि मुष्टिमिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्' प्रियंगुश्यामासखीमिव प्रियदर्शनाम्, ब्रह्मदत्त-महिषीमिव सोमप्रभाम्, दिग्गजकरेणुकामिवानुपमाम् रेवामिव नर्मदाम्, वेलामिव तमालपत्रप्रसाधिताम्, अश्वतरकन्यामिव मदालसां वासवदत्तां ददर्श ।"

अर्थात्—उस कन्दर्पकेतु ने वासवदत्ता को देखा, जो ब्रह्मानन्द देने वाली उपनिषद् की तरह सदा आनन्द को प्रकाशित करती थी, सदाचारी ब्राह्मण की कुलमर्यादा की भाँति सुन्दर चरणों से युक्त थी, ढालू प्रदेशों से युक्त विन्ध्यगिरि की शोभा की भाँति सुन्दर नितंबों से युक्त थी, वज्र की यष्टि की तरह उसका मध्य भाग पतला था, नरवाहनदत्त की रानी प्रियंगुश्यामा की सखी प्रियदर्शना की तरह वह प्रियदर्शना (सुन्दर दर्शन वाली) थी, ब्रह्मदत्त राजा की पत्नी सोमप्रभा की तरह वह सोमप्रभा (चन्द्रमा के समान कान्ति वाली) थी, दिग्गज की पत्नी अनुपमा के समान वह अनुपमा (जिसकी सौन्दर्य में कोई तुलना न कर सके) थी, नर्मदा नाम वाली रेवा नदी की तरह नर्मदा (रतिक्रीड़ा का आनन्द देने वाली) थी, तमालपत्र से विभूषित समुद्रवेला की भाँति तिलक से अलंकृत (तमालपत्र-प्रसाधिता) थी, अश्वतर नामक विद्याधर की कन्या मदालसा के समान वह यौवन-मद से अलसाई-सी थी ।

वस्तुतः सुबन्धु एक चमत्कारवादी कवि है । इसने अपने काव्य में अलंकारों का प्रयोग अलंकारों के लिए किया है, अलंकार्य या रसानुभूति कराने के लिए नहीं । इसीलिए इनके काव्य में दुरूहता का समावेश हो गया है ।

यद्यपि सुबंधु के काव्य में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सरल एवं स्वाभाविक पद-विन्यास का सुबंधु में नितांत अभाव है । वस्तुतः लंबे-लंबे समासांत पदों से सुबंधु को कोई अनुराग नहीं है । यदि वह समासांत पदों का प्रयोग भी करता है तो केवल छोटे-छोटे वाक्यों में । दण्डी के समान उसका वाक्य सामान्यतः पाँच-पाँच छः-छः पृष्ठों तक नहीं चलता यद्यपि वर्णनों में उसके वाक्य भी कहीं-कहीं उतने ही बड़े हो गए हैं

जितने बाण के। सरल एवं स्वाभाविक पद-विन्यास ही नहीं अपितु स्वाभाविक एवं रमणीय दृश्यों के आँकलन में भी कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। विंध्याटवी में हाथी से लड़ते हुए शेर के चित्र में कवि ने जितनी स्वाभाविकता दिखलाई है वह वस्तुतः दर्शनीय है—

पश्योदञ्चदवाञ्चदञ्चितवपुः पूर्वार्धपश्चार्धभाक्
स्तब्धोत्तानितपृष्ठनिष्ठितमनाग्भुग्नाग्रलाङ्गूलभृत्।
दंष्ट्राकोटिविशंकटास्यकुहरः कुर्वन्सटामुत्कटा-
मुत्कर्णःकुरुते क्रमं करिपतौ क्रूराकृतिः केसरी॥

अर्थात्—देखो वह भयंकर आकृति वाला सिंह हाथी पर आक्रमण कर रहा है, उसके शरीर का अगला हिस्सा उठा हुआ और पिछला हिस्सा झुका हुआ है, पूँछ निश्चल और खड़ी हुई है, उसकी पूँछ का अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ है और पीठ को छू रहा है, उसका बड़ा-सा मुख दाँतों के किनारे से भयंकर है और उसने अपने अयाल उठा रक्खे हैं तथा कान खड़े कर रक्खे हैं।

अंततः कहा जा सकता है कि सुबंधु चित्रोपम और अलंकृत गद्य-शैली तथा छोटे-छोटे वाक्यों के कारण सदैव अमर रहेंगे।

बाण—सानुप्रासिक समासांत पदावली, अपार शब्द-भण्डार, प्रकृति का विशद चित्रण, मानवीय मनोवृत्तियों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण एवं काव्योपयोगिनी कल्पना की आश्चर्यजनक शक्ति आदि का दर्शन करने की चाह यदि किसी पाठक को है तो उसे बाण के काव्य का अनुशीलन करना चाहिए। वस्तुतः बाण इन सब गुणों में इतना दक्ष था कि उनके समकालीन एवं परवर्ती साहित्य-पंडितों ने उनके काव्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उन्हें **'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'** अर्थात् बाण ने सारे जगत को जूठा कर दिया है की पदवी से विभूषित किया है।

साहित्यिक दृष्टि से बाण के काव्य का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि वह रमणीय प्रणय-चित्रों, नखशिख वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के आँकलन में बहुत कुशल हैं। उनके प्रणय चित्रों में संयोग और वियोग दोनों

ही प्रकार के भावों का सफल अंकन हुआ है। महाश्वेताविलाप और कादम्बरी के विरहवर्णन में कवि ने कमाल ही कर दिया है। नखशिख वर्णनों के क्षेत्र में उन्होंने केवल स्त्रियों के नखशिख का वर्णन ही नहीं किया है अपितु पुरुषों के अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण भी किया है। जहाँ वे एक ओर चाण्डाल-कन्या, शूद्रक की स्नानक्रिया के अवसर पर वारिविलासिनियों, महारानी विलासवती, ताँबूलकरक-वाहिनी पत्रलेखा, तपःपूत महाश्वेता और गंधर्वराजपुत्री कादंबरी का रूप वर्णन अत्यन्त दक्षता के साथ करते हैं वहाँ दूसरी ओर शूद्रक और चंद्रापीड़ जैसे राजाओं की पुरुषोचित आकृति, जाबालि और जाबालिपुत्र हारीत तथा पुण्डरीक और कपिंजल के तपस्विजनोचित वर्णन में भी अपूर्व सूझबूझ का परिचय देते हैं। इतना ही नहीं विशद, सजीव, अलंकृत और सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण करने में भी कवि पर्याप्त कुशल है। विंध्याटवी, सूर्य और चन्द्रमा के उदय और अस्त, उठती हुई संध्या और रात्रि के अन्धकार, उन्नत हिमालय के भव्य दृश्यों और भयानक वनों के बीच स्थित अच्छोद सरोवर आदि के वर्णनों में बाण को पर्याप्त सफलता की प्राप्ति हुई है। प्रमाणस्वरूप एक दो चित्र देखिये—

"वनकरिकुलमदजलसेक संवर्धितवैरतिविकचधवलकुसमनिकरमत्युच्चतया तारकागणमिव शिखरप्रदेशसंलग्नमुद्वहद्भिः पादपैरुपशोभिता, मदकलकुरर-चलदृश्यमानमरियपल्लवा, कटिकलभकरमृदिततमालकिसलयामोदिनी, मधु-दोयरक्तकेरलीकपोलच्छाविना संचरद्वदेवताचरणालक्तकरसरञ्जितेनेव, पल्लव, चयेन संच्छादिता......।"

यहाँ पर कवि ने विंध्याटवी की शोभा का वर्णन किया है। इसी प्रकार से सूर्यास्त का दृश्य प्रस्तुत करते समय कवि एक स्थल पर लिखता है—

"अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुप-पादयता यः क्षितिते दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनांगरागं रविरुद्वहत्। ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्बविनिहितदृष्टिभिरुष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमानतेजःप्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत्। उद्यत्सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव

संहृतपादः पारावतचरणपाटलरागो रविरम्बरतलादलम्बत् । विहाय धरणतलमुन्मुच्य कमलनीव नान शुकनपइव दिवसावसाने तपोवन तरुशिखरेषु पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वतः ।"

इन्होंने प्रकृति-चित्रण करते समय अलंकारों से भी पर्याप्त सहायता ग्रहण की है। इस दृष्टि से श्लेष, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या और विरोध आदि कवि के प्रमुख प्रिय अलंकार रहे हैं।

कवि का भावपक्ष जितना सबल है उतना ही सवल उनका कलापक्ष भी वस्तुतः उनकी वर्णन-शक्ति बहुत भारी है। भाषा पर उनका विद्वतापूर्ण अधिकार है। इसीलिए उन्होंने कितने ही कठिन और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग कर डाला है। इसलिए वैंवर आदि विद्वानों ने लिखा है—'उसका (बाण का) गद्य एक ऐसा भारतीय जंगल है जिसमें झार-झंखाड़ों के आने के कारण पथिक जब तक मार्ग न बना ले, आगे नहीं बढ़ सकता, और जिसमें उसे अप्रसिद्ध शब्दों के रूप में भयानक जंगली जानवरों का सामना करना पड़ता है।' लेकिन बाण के काव्य पर ऐसा आरोप करना बाण के साथ अन्याय करना है क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं में केवल शाब्दी-क्रीड़ा का ही परिचय नहीं दिया है, उनके यहाँ तो भाषा की जटिलता के साथ ही साथ भाव-सौन्दर्य भी दर्शनीय है।

बाण की रचनाओं में अलंकारों की छटा भी दर्शनीय है। इस दिशा में उसने केवल अति प्रचलित उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को ही नहीं अपनाया है अपितु अप्रचलित रसनोपमा, विरोधाभास, आक्षेप, परिसंख्या, वक्रोक्ति आदि अलंकारों का भी बड़ी सरलता के साथ प्रयोग किया है। एकाध चित्र देखिए कितने सुन्दर बन पड़े हैं अपने आप में—

रसनोपमा—'क्रमेण च कृतं मे वयषु बसंत इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदने नवयौवनेन पदम् ।

विरोधाभास—'शिशिरस्यापि रिपुजनसंतापकारिणः स्थिरस्याप्यनवरतं भ्रमतः निर्मलस्यापि सर्वजनरागकारिणः ।

वस्तुतः कवि को इस दिशा में इतनी सफलता की प्राप्ति हुई है कि पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय के शब्दों में कहना पड़ता है कि बाण की शैली में अलंकारों का समुचित प्रयोग अपूर्व रमणीयता का संचार करता है। उनके अलंकारों की छटा दर्शनीय है। उनके लम्बे-लम्बे समास यदि गिरि-नदी के उद्दाम प्रवाह की भाँति है तो उनकी श्लिष्ट उपमायें इन्द्रधनुष की छाया की भाँति उसे रंगीन बना देती हैं। उनके अनुप्रास भाषा में विलक्षण स्वर-माधुर्य का संचार करते हैं।

शैली के क्षेत्र में कवि ने न गौड़ी का ही आश्रय ग्रहण किया है और न वैदर्भी का ही। वह तो गौड़ी और वैदर्भी के छोर को छूता हुआ मध्यम मार्ग की पाञ्चाली सरणि का ही आश्रय ग्रहण करता है।

अन्ततः गोवर्धनाचार्य के शब्दों में बाण के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है—

जाता शिखण्डिनी प्राग्यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति॥

प्रश्न २९—निम्नलिखित ग्रंथों का सार लिखिए—

(क) दशकुमारचरित्।

(ख) कादम्बरी।

दशकुमारचरित्—जैसा कि इस ग्रंथ के नाम से प्रकट है इसमें दस राजकुमारों की कहानी है। इस ग्रंथ का वर्तमान स्वरूप तीन भागों में विभाजित है—

(क) पूर्वपीठिका जिसमें पाँच उच्छ्वास (अध्याय) हैं। (ख) दशकुमार चरित् जिसमें आठ उच्छ्वास हैं। (ग) उत्तरपीठिका जिसमें अंतिम राजकुमार विश्रुत की कहानी पूरी की गई है।

संक्षेप में इसकी कथा इस प्रकार है—

मगधप्रदेश की पुष्पपुर नाम्नी नगरी में राजहंस नामक एक प्रतापी नरेश शासन करता था। उसकी भार्या वसुमती परम लावण्यवती एवं गुणवती थी।

राजहंस ने मालव-नरेश मानसार पर आक्रमण किया। मानसार पराजित हुआ। इस पराजय से उसे बहुत लज्जा का अनुभव हुआ। इसलिए उसने शिवजी की आराधना कर दिव्य-शक्ति प्राप्त की। इस शक्ति की सहायता से उसने राजहंस को पराजित कर उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। राजहंस अपने परिवार और सचिवों सहित विंध्याटवी में निवास करने लगा। धर्मपाल, पद्मोद्भव तथा सितवर्मा नामक सचिव यहाँ पर भी उसकी पूर्ववत् सेवा करने लगे। कुछ समय के उपरांत धर्मपाल के सुमंत्र, सुमित्र और कामपाल, पद्मोद्भव के सुश्रुत और रत्नोद्भव तथा सितवर्मा के सुमति और सत्यवर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से कामपाल, रत्नोद्भव और सत्यवर्मा ने तो विदेश-यात्रा के लिए प्रस्थान किया और शेष पिताओं की मृत्यु के उपरांत सचिव नियुक्त हुए।

कुछ समय के अनन्तर वसुमती के गर्भ से राजवाहन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी समय राजा के मन्त्रियों के भी पुत्र उत्पन्न हुए। कामपाल, रत्नोद्भव और सत्यवर्मा के पुत्र भी राजा के पास आ गए। राजा (राजहंस) के परम मित्र प्रहारवर्मा के दो पुत्र भी राजा के समीप लाए गए। जब इन सब कुमारो ने सब प्रकार की विद्याओं में निपुणता प्राप्त करली तब वामदेव के कहने पर इन्हें दिग्विजय के लिए प्रेपित कर दिया गया। ये सब कुमार संख्या में दस थे।

राजवाहन ने विन्ध्याटवी के मध्य में अपना प्रथम शिविर (Camp) डाला। वहाँ एक ब्राह्मण ने आकर उसे अपनी कथा सुनाई कि ब्राह्मण वंशज होने पर भी वह किसानों का जीवन व्यतीत करता था। एक बार उसने अपने साथियों से एक ब्राह्मण को प्राण-दान देने का आग्रह किया किन्तु वे उसे अपशब्द कह कर तथा मार कर चले गये। इसके बाद वह यमपुरी पहुंचा और यम के आदेश से पुनः जीवित हो गया। तदुपरांत वह शिव की उपासना करने लगा। शिव ने उसे स्वप्न में दर्शन दिए और पाताल का राज्य प्राप्त करने की विधि बतलाई। शिव ने यह भी बतलाया इस कार्य में तुम्हारी सहायता करने

वाला राजकुमार एक दो दिनों में ही आ जाएगा। राजवाहन ने ब्राह्मण के पास जाकर उसकी सहायता की जिससे ब्राह्मण की इष्टसिद्धि हो गई। अब राजवाहन ब्राह्मण से विदा मांग कर अपने शिविर-स्थान पर लौटा। यहाँ पर उसने देखा कि उसके साथी पहले ही उसकी खोज में जा चुके हैं। अतः राजवाहन भी उन्हें खोजने के लिए निकल पड़ा। ढूंढते-ढूंढते वह उज्जयिनी के समीप पहुंचा। यहाँ पर उसकी भेंट सोमदत्त और पुष्पोद्भव से हो गई। दोनों ने उसे (राजवाहन को) अपनी-अपनी कथा सुनाई। अब राजवाहन उज्जयिनी में निवास करने लगा। यहाँ पर उसका प्रेम अवन्तिसुन्दरी से हो गया जिसके कारण वह वन्दी बन गया। उज्जयिनी-नरेश चण्डवर्मा ने चंपाधिपति सिंहवर्मा पर आक्रमण किया और राजवाहन को लकड़ी के पिंजरे में वन्द करके साथ ले गया। तदुपरांत चण्डवर्मा राजवाहन के सखा अपहारवर्मा द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ। इतने में ही सिंहवर्मा के सहायक नरेश आ पहुँचे। इन सहायकों में ही राजवाहन को शेष मित्र मिल गए। अब सबने अपनी-अपनी कथा सुनानी आरंभ की। लेकिन इसी समय जब सब मित्र अपनी-अपनी कथा सुना रहे थे पुष्पपुर से राजहंस का संदेशवाहक आया। उसने बतलाया कि महाराज ने सब राजकुमारों को एकदम वापिस बुलाया है। यह आज्ञा सुनकर सब राजकुमारों ने पुष्पपुर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में मालव नरेश मानसार को पराजित कर उसके राज्य को हस्तगत कर लिया, फिर उस राज्य का समुचित प्रवन्ध कर पुष्पपुर पहुँचे। तदुपरान्त उन्होंने वसुमती, राजहंस और वामदेव को प्रणाम कर अपनी-अपनी कथा सुनाई। राजहंस ने राजकुमारों को विभिन्न प्रदेशों का शासक नियुक्त कर वानप्रस्थ ले लिया। इधर सभी राजकुमार अपने-अपने राज्यों का न्यायोचित प्रवन्ध करते हुए राजवाहन की छत्रछाया में आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

कादम्बरी—विदिशा के राजा शूद्रक एक दिन अपने दरबार में बैठे हुए थे। वहाँ कोई चाण्डाल कन्या एक मेधावी शुक के साथ आई। उस शुक ने राजा को आशीर्वाद देकर अपनी दुःखभरी कथा मानवी-भाषा में सुनानी आरम्भ की। उसने बतलाया कि उसकी माता की मृत्यु उसके जन्म के समय

ही हो गई थी। फलतः वह अपने पिता के साथ विन्ध्यारण्य के वृक्ष पर निवास करने लगा। लेकिन कुछ समय के उपरान्त किरातों ने उसके पिता को मार दिया और वह नीचे गिर गया। वहाँ से जाबालि मुनि का एक शिष्य दयार्द्र होकर उसे अपने गुरु के आश्रम में ले गया। आश्रम में पहुँचने पर जाबालि मुनि ने उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त शिष्यों को सुनाया जो इस प्रकार था—

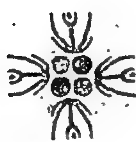
उज्जयिनी नरेश तारापीड़ की रानी का नाम विलासवती था। उसके मन्त्री का नाम शुकनास था। बहुत समय बीतने पर तारापीड़ के यहाँ चन्द्रापीड़ और शुकनास के यहाँ वैशम्पायन नामक पुत्रों ने जन्म लिया। दोनों पुत्रों का पालन-पोषण साथ-साथ हुआ और धीरे-धीरे दोनों घनिष्ठ मित्र हो गये। सोलह वर्ष की अवस्था में इन्होंने समस्त विद्याओं में निपुणता प्राप्त कर ली। शिक्षा समाप्ति पर शुकनास ने चन्द्रापीड़ को एक मनोहर एवं राजोपयोगी उपदेश दिया। तब राजकुमार को युवराज पद देकर इन्द्रायुध नामक एक विलक्षण घोड़ा तथा पत्रलेखा नामक एक विश्वासपात्र सेविका दी गई। अब राजकुमार अपने अभिन्न मित्र वैशम्पायन के साथ दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। तीन वर्षों तक निरन्तर विजय प्राप्त करने के उपरान्त एक दिन वे एक किन्नर-युगल का पीछा करते हुए अच्छोद नामक एक रमणीय सरोवर के निकट पहुँचे। वहाँ पर राजकुमार का परिचय तपश्चर्या करती हुई महाश्वेता नाम्नी रमणी से हुआ। उसने राजकुमार को बतलाया कि वह एक गंधर्व कन्या थी। पुण्डरीक नामक एक ऋषि कुमार को देख कर वह उस पर अनुरक्त हो गई। एक दिन जब वह अच्छोद सरोवर पर स्नान के लिए आई तब पुण्डरीक भी उसके प्रेम-पाश में बँध गए। लेकिन मिलन के पूर्व ही पुण्डरीक की स्मर-पीड़ा से मृत्यु हो गई। जब वह उसकी चिता के साथ सती होने लगी तब एक दिव्य-मूर्त्ति ने पुनर्मिलन का आश्वासन देकर पुण्डरीक के शरीर को ग्रहण कर लिया। इस आत्म-कथा के अतिरिक्त महाश्वेता ने राजकुमार को अनुपम लावण्यवती तथा अपनी प्रिय सखी कादम्बरी के सम्बन्ध में भी अनेक बातें बतलाईं। तदुपरान्त चन्द्रापीड़ कादम्बरी के दर्शन करने गया। प्रथम साक्षात्कार में ही दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। दोनों अभी

पारस्परिक अनुराग को प्रकट भी नहीं कर पाए थे कि चन्द्रापीड़ को पिता का बुलावा आने के कारण शीघ्र लौटना पड़ता है। वे वैशम्पायन को सेना के लौट आने का निर्देश करके उज्जयिनी चले जाते हैं। इस अवसर पर कादंबरी बहुत दुःखी हो जाती है और आत्म-हत्या के द्वारा अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देना चाहती है किन्तु पत्र-लेखा जिसे चन्द्रापीड पीछे छोड़ गया था समझा-बुझा कर उसे ऐसा करने से रोक देती है। तदुपरान्त स्वयं चन्द्रापीड़ के पास आकर कादम्बरी की प्रेम-विह्वलता की गाथा सुनाती है।

बाणकृत कादम्बरी की कथा यहीं समाप्त हो जाती है, इसके आगे की कथा उनके पुत्र भूषणभट्ट ने लिखी है जो इस प्रकार है—

पत्रलेखा के मुख से कादम्बरी की विरह-विह्वलता सुनने के उपरान्त चन्द्रापीड़ उससे मिलने के लिए उद्यत होता है। वह महाश्वेता के पास पहुँचता है। महाश्वेता से उसे अपने परम मित्र वैशम्पायन की विपत्ति का अवबोध होता है। उसे ज्ञात होता है कि वैशम्पायन ने महाश्वेता पर मोहित होकर उससे एकान्त में प्रणय का प्रस्ताव रक्खा था जिसके फलस्वरूप महाश्वेता ने उसे श्राप दे दिया और वह तोता बन गया। मित्र की इस विपत्ति को सुनने के बाद चन्द्रापीड़ भी प्राण त्याग देता है। कादम्बरी विलाप करने लगती है। इतने में आकाशवाणी होती है कि इसके प्राण शापवश निकले हैं, अतः तुम इसके शव को सुरक्षित रखो। अन्त में तुम दोनों को तुम्हारे प्रियतमों की प्राप्ति होगी। तारापीड़ और देवी विलासवती भी पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर अत्यधिक उद्विग्न हो जाते है। जाबालि की कथा यहीं पर समाप्त हो जाती है। इसके उपरान्त शुक (पुण्डरीक) को खोजता हुआ उसका मित्र कपिंजल जाबालि के आश्रम में प्रवेश करता है और अपने मित्र की ऐसी अवस्था देखकर अत्यन्त दुःखित होता है। एक दिन शुक आश्रम से उड़ निकलता है और किसी चाण्डाल के द्वारा पकड़ा जाता है, वह उसे अपनी पुत्री को दे देता है। यह चाण्डाल-कन्या ही उसे शूद्रक के पास लेकर आती है। इसके बाद का वृत्तान्त शुक को ज्ञात नहीं है। इतना ही नहीं उसे यह भी

मालूम नहीं है कि चाण्डाल-कन्या उसे यहाँ क्यों लाई है। इसके बाद चाण्डाल कन्या अपना परिचय प्रस्तुत करते हुए कहती है कि पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है, पुण्डरीक पिछले जन्म का वैशम्पायन तथा इस जन्म का शुक है। शूद्रक स्वयं पिछले जन्म में चन्द्रापीड़ था और उसके पूर्व जन्म में भगवान चन्द्रमा जिसे पुण्डरीक ने श्राप दे दिया था। इतना कुछ कहने के उपरान्त चाण्डाल-कन्या (पुण्डरीक की माता लक्ष्मी) अंतर्धान हो जाती है। लक्ष्मी के जाने के उपरांत शूद्रक और शुक भी अपना यह शरीर छोड़ देते हैं, चन्द्रापीड़ का शव भी पुनर्जीवित हो जाता है। इसके बाद महाश्वेता तथा पुण्डरीक और कादम्बरी तथा चन्द्रापीड़ का मिलन होता है तथा वे कभी चन्द्रलोक तथा कभी मृत्यु-लोक में विहार करते हुए सानन्द जीवन व्यतीत करते हैं।



: ७ :

गीतिकाव्य

प्रश्न २०—संस्कृत साहित्य के प्रमुख-प्रमुख गीतिकाव्य-लेखकों और उनकी कृतियों का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

गीतिकाव्य संस्कृत-साहित्य का परम रमणीय अङ्ग है। कालिदास घट-कर्पर, भर्तृहरि, अमरुक, बिल्हण, धोयी, गोवर्धनाचार्य, जयदेव और पण्डित-राज जगन्नाथ आदि अनेक कवियों ने सुन्दर-सुन्दर काव्य-ग्रन्थ प्रस्तुत किए हैं। आगामी पंक्तियों में हम इन्हीं विभिन्न लेखकों के काव्य-कौशल का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे। अस्तु!

कालिदास—ये संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों और नाटककारों में से हैं। जिस प्रकार से शाकुन्तलम् सर्वप्रसिद्ध नाटक, रघुवंश एवं कुमारसंभव सर्वप्रसिद्ध महाकाव्य के रूप में प्रख्यात हैं उसी प्रकार से ऋतुसंहार, मेघदूत और शृङ्गार-तिलक की गीति-काव्य के श्रेष्ठतम ग्रन्थों में गणना होती है।

ऋतुसंहार—यह छः सर्गों का एक छोटा-सा काव्य है। इसका पतिपाद्य विषय प्रकृति-चित्रण है। इसमें ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं का यथाक्रम वर्णन किया गया है। कवि ने काव्य ग्रीष्म की प्रचण्डता के साथ आरम्भ किया है और वसन्त की सरसता के साथ काव्य की परि-समाप्ति की गई है। काव्य-कौशल की दृष्टि से यद्यपि यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु कालिदास की सूक्ष्म ईक्षिका और प्रसादगुणशीलता का परिचय कराने में यह पूर्णतः समर्थ है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल के मतानुसार 'प्रकृति के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति, सूक्ष्मईक्षिका और भारतीय प्राकृतिक दृश्यों को विशद रंगों में चित्रित करने की कुशलता को जितने सुन्दर रूप में यह ग्रन्थ सूचित करता है उतने में कदाचित कोई भी दूसरा ग्रन्थ नहीं

करता।' केवल मैकडानल ने ही ऋतुसंहार की इस प्रकार से प्रशंसा की हो ऐसी बात नहीं है। यह ग्रन्थ अन्य साहित्य-रसिकों के मन को भी मुग्ध करता रहा है। पाश्चात्य साहित्य-मनीषी ए० बी० कीथ तो इसकी गणना कालिदास के श्रेष्ठतम ग्रंथ के रूप में करते हैं। उनका कथन है, 'कालिदास के दूसरे किसी भी ग्रन्थ में वह पूर्ण प्रसाद गुण नहीं है जिसे आधुनिक अभिरुचि कविता की एक बड़ी रमणीयता समझती है, चाहे अलंकार-शास्त्रियों को इसने बहुत आकृष्ट न किया हो।'

मेघदूत—संस्कृत साहित्य की गीतिकाव्य परम्परा में इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इतना होने पर भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती। मल्लिनाथ की टीका में यदि ११८ पद्य प्राप्त होते हैं तो वल्लभदेव की टीका में १११ ही पद्य सङ्कलित हैं। इतना ही नहीं यदि किसी संस्करण में पद्यों की संख्या १२१ है तो किसी में इससे भी अधिक। लेकिन इन सब वैषम्यों के होते हुए भी मल्लिनाथ की टीका में प्राप्त होने वाले पद्यों की संख्या को ही ठीक माना है।

मेघदूत में यद्यपि कथावस्तु नगण्य सी है, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह अति रोचक है। एक यक्ष धनपति कुबेर के कोप से एक वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया जाता है। वह अपनी पत्नी से वियुक्त होकर रामगिरि पर्वत पर निवास करने लगता है। आठ मास व्यतीत करने के उपरान्त वर्षा ऋतु के आगमन पर प्रिया-वियोग से उन्मत्त होकर एक मेघ के द्वारा प्रेम का सन्देश प्रेषित करता है। वह मेघ से कहता है कि यहाँ से उत्तर दिशा में चलने पर तुम माल नामक क्षेत्र में पहुँच जाओगे। वहाँ से कुछ दूर तक पश्चिम में चलने के बाद की ढलान पर तुम्हें अलका नगरी मिलेगी फिर तुम उत्तर दिशा की ओर मुड़ जाना। इस प्रकार से तुम आम्रकूट पर्वत पर पहुँच जाओगे। यहाँ पर वृष्टि द्वारा दावानल को बुझाते हुए जब तुम आगे बढ़ोगे तब तुम्हें विन्ध्य पर्वत के नीचे बहती हुई नर्मदा और वेत्रवती नदी के किनारे बसी हुई विदिशा नगरी के दर्शन होंगे। वहाँ से तुम उज्जयिनी को

जाना । वहाँ शिप्रा का स्वाद लेकर, महाकाल की सेवा कर आगे बढ़ना । आगे गंभीरा नदी को पार कर स्कंद के निवास स्थान देवगिरि से होकर दशपुर पहुँचना । वहां से आगे चल कर ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदी से होते हुए, कनखल के पास गंगा पार कर हिमालय पर चढ़ना । इसके बाद चरण-न्यास आदि स्थलों पर होकर क्रौंचरंध्र से निकलते हुए उत्तर दिशा में कैलाश पर्वत पर पहुँच जाना । इसी पर्वत पर तुम्हें अलका नगरी मिलेगी ।

उत्तर मेघ में यक्ष अलका नगरी के वैभव का वर्णन करते हुए मेघ को अपने निवास-स्थान का सरस और विलासमय विवरण देता है ताकि उसे ढूंढने में कोई कठिनता न हो । तदनन्तर वह मेघ से अभ्यर्थना करता है कि जब तुम मेरी अर्धांगिनी के निवास-स्थल पर पहुँचो तब तुम अपनी बिजली को जोर से न चमकने देना क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि मेरी पत्नी कोई ऐसा स्वप्न देख रही हो जिसमें वह मेरा ही ध्यान कर रही हो और तुम्हारी गर्जना सुनकर वह जाग पड़े । यक्ष का पुनः कथन है कि जब वह स्वयं जग जाए तभी तुम मेरे प्रेम का संदेश देना और यह कह कर धीरज बंधाना कि हमारा संयोग शीघ्र ही होगा ।

काव्य-कौशल की दृष्टि से मेघदूत एक अनुपम रचना है । कवि जहां एक ओर कोमल कल्पनाओं की उद्‌भावना में दक्ष होने का परिचय देता है वहां दूसरी ओर अभिव्यंजना-कौशल के क्षेत्र में पूर्णतः पारंगत दृष्टिगत होता है । शब्दों के चुनाव में तो कवि ने विशेष कौशल दिखलाया है । कहीं वह कोमल-कांत पदावली के द्वारा प्रेमिका के अति सुकुमार हृदय का आभास कराता है तो कहीं शब्दों की नादात्मक ध्वनि से ही वर्णित विषय का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । शब्द-चित्रों की भी मेघदूत में कमी नहीं है । अलंकारों की दृष्टि से कवि के यहां उपमा और उत्प्रेक्षा ही अधिक देखने को मिलते हैं । उपमा का तो वह आचार्य ही है । मंदाक्रांता छंद को अपनाने के कारण सारा काव्य मंद मंथर गति से चलता है । वस्तुतः मेघदूत की शैली स्वाभाविकता और प्रासादिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है । उसमें अन्तः प्रकृति

करता।' केवल मैकडानल ने ही ऋतुसंहार की इस प्रकार से प्रशंसा की हो ऐसी बात नहीं है। यह ग्रन्थ अन्य साहित्य-रसिकों के मन को भी मुग्ध करता रहा है। पाश्चात्य साहित्य-मनीषी ए० बी० कीथ तो इसकी गणना कालिदास के श्रेष्ठतम ग्रंथ के रूप में करते हैं। उनका कथन है, 'कालिदास के दूसरे किसी भी ग्रन्थ में वह पूर्ण प्रसाद गुण नहीं है जिसे आधुनिक अभिरुचि कविता की एक बड़ी रमणीयता समझती है, चाहे अलंकार-शास्त्रियों को इसने बहुत आकृष्ट न किया हो।'

मेघदूत—संस्कृत साहित्य की गीतिकाव्य परम्परा में इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इतना होने पर भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती। मल्लिनाथ की टीका में यदि ११८ पद्य प्राप्त होते हैं तो वल्लभदेव की टीका में १११ ही पद्य सङ्कलित हैं। इतना ही नहीं यदि किसी संस्करण में पद्यों की संख्या १२१ है तो किसी में इससे भी अधिक। लेकिन इन सब वैषम्यों के होते हुए भी मल्लिनाथ की टीका में प्राप्त होने वाले पद्यों की संख्या को ही ठीक माना है।

मेघदूत में यद्यपि कथावस्तु नगण्य सी है, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह अति रोचक है। एक यक्ष धनपति कुबेर के कोप से एक वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया जाता है। वह अपनी पत्नी से वियुक्त होकर रामगिरि पर्वत पर निवास करने लगता है। आठ मास व्यतीत करने के उपरान्त वर्षा ऋतु के आगमन पर प्रिया-वियोग से उन्मत्त होकर एक मेघ के द्वारा प्रेम का सन्देश प्रेषित करता है। वह मेघ से कहता है कि यहाँ से उत्तर दिशा में चलने पर तुम माल नामक क्षेत्र में पहुँच जाओगे। वहाँ से कुछ दूर तक पश्चिम में चलने के बाद की ढलान पर तुम्हें अलका नगरी मिलेगी फिर तुम उत्तर दिशा की ओर मुड़ जाना। इस प्रकार से तुम आम्रकूट पर्वत पर पहुँच जाओगे। यहाँ पर वृष्टि द्वारा दावानल को बुझाते हुए जब तुम आगे बढ़ोगे तब तुम्हें विन्ध्य पर्वत के नीचे बहती हुई नर्मदा और वेत्रवती नदी के किनारे बसी हुई विदिशा नगरी के दर्शन होंगे। वहाँ से तुम उज्जयिनी को

जाना । वहाँ शिप्रा का स्वाद लेकर, महाकाल की सेवा कर आगे बढ़ना । आगे
गंभीरा नदी को पार कर स्कंद के निवास स्थान देवगिरि से होकर दशपुर
पहुँचना । वहां से आगे चल कर ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदी से होते
हुए, कनखल के पास गंगा पार कर हिमालय पर चढ़ना । इसके बाद चरण-
न्यास आदि स्थलों पर होकर क्रौंचरंध्र से निकलते हुए उत्तर दिशा में कैलाश
पर्वत पर पहुँच जाना । इसी पर्वत पर तुम्हें अलका नगरी मिलेगी ।

उत्तर मेघ में यक्ष अलका नगरी के वैभव का वर्णन करते हुए मेघ को
अपने निवास-स्थान का सरस और विलासमय विवरण देता है ताकि उसे
ढूंढने में कोई कठिनता न हो । तदनन्तर वह मेघ से अभ्यर्थना करता है कि
जब तुम मेरी अर्धांगिनी के निवास-स्थल पर पहुँचो तब तुम अपनी बिजली
को जोर से न चमकने देना क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि मेरी पत्नी कोई ऐसा
स्वप्न देख रही हो जिसमें वह मेरा ही ध्यान कर रही हो और तुम्हारी
गर्जना सुनकर वह जाग पड़े । यक्ष का पुनः कथन है कि जब वह स्वयं जग
जाए तभी तुम मेरे प्रेम का संदेश देना और यह कह कर धीरज बंधाना कि
हमारा संयोग शीघ्र ही होगा ।

काव्य-कौशल की दृष्टि से मेघदूत एक अनुपम रचना है । कवि जहां एक
ओर कोमल कल्पनाओं की उद्भावना में दक्ष होने का परिचय देता है वहां
दूसरी ओर अभिव्यंजना-कौशल के क्षेत्र में पूर्णतः पारंगत दृष्टिगत होता है ।
शब्दों के चुनाव में तो कवि ने विशेष कौशल दिखलाया है । कहीं वह कोमल-
कांत पदावली के द्वारा प्रेमिका के अति सुकुमार हृदय का आभास कराता
है तो कहीं शब्दों की नादात्मक ध्वनि से ही वर्णित विषय का चित्र प्रस्तुत
करने का प्रयास किया गया है । शब्द-चित्रों की भी मेघदूत में कमी नहीं है ।
अलंकारों की दृष्टि से कवि के यहां उपमा और उत्प्रेक्षा ही अधिक देखने को
मिलते हैं । उपमा का तो वह आचार्य ही है । मंदाक्रांता छंद को अपनाने के
कारण सारा काव्य मंद मंथर गति से चलता है । वस्तुतः मेघदूत की शैली
स्वाभाविकता और प्रासादिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है । उसमें अन्तः प्रकृति

और बाह्य प्रकृति के एक से एक सुन्दर चित्र भरे पड़े हैं। उदाहरणस्वरूप एक दो पद देखिए—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढ़ोत्कण्ठां गरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्येशिशिरमथितां पद्मिनी वान्यरूपाम् ॥

यहाँ पर कवि ने यक्ष-पत्नी के बाह्य एवं अन्तः सौन्दर्य का सुकुमार एवं करुण अंकन किया है।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण मेघदूत को सार्वभौम प्रशंसा प्राप्त हुई है। पाश्चात्य कवियों ने अपनी भाषाओं में इस ग्रंथ के रोचक अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इतना ही नहीं जर्मन कवि शीलर ने तो इस ग्रंथ से प्रभावित होकर 'मारिया स्टुअर्ट' नामक काव्य ही लिख डाला है।

शृङ्गार-तिलक—जनश्रुति के अनुसार कालिदास शृङ्गार-तिलक नामक गीति-काव्य के प्रणेता भी माने जाते हैं। इसमें शृंगार रस के २३ आकर्षक पद्य हैं। संपूर्ण ग्रंथ में कही पर भी कालिदास की प्रांजल शैली के दर्शन नहीं होते। इतना ही नहीं सूक्तियाँ भी इनी-गिनी हैं। लेकिन फिर भी कल्पना की उड़ान, प्रसादपूर्ण भाषा और सरल शैली की दृष्टि से इस ग्रंथ को हेय नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए निम्न पद्य देखिए—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय धाता
कान्ते कथं कठितवानुपलेन चेतः ॥

इस पद्य में कवि ने कोमलांगी किन्तु पाषाण-हृदया प्रियतमा का सुन्दर चित्रण किया है।

घटकर्पर—जनश्रुति के अनुसार यह महाराज विक्रमादित्य के नव-रत्नों में से एक माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कोई तथ्य ज्ञात

नहीं होता है। इन्होंने २२ श्लोकों में एक लघु काव्य का प्रणयन किया है जो 'घटकर्पर' के नाम से प्रसिद्ध है। यह नाम संभवतः इसलिए पड़ा कि कवि ने अपने काव्य के अन्तिम श्लोक में यह-प्रतिज्ञा की है कि जो कवि यमक अलंकार के प्रयोग में मुझसे बाजी मार ले जायगा उसके यहाँ मैं घड़े के कर्पर (खप्पर) से पानी भरूँगा। इस काव्य का विषय मेघदूत से बिल्कुल उल्टा है, अर्थात् इस ग्रंथ में एक नवयुवती पत्नी मेघ के द्वारा अपने पति के पास प्रणय-संदेश भेजती है।

भर्तृहरि—गीतिकाव्य के इतिहास में भर्तृहरि का उल्लेख कालिदास के उपरांत तथा शेष कवियों से पहले किया जाता है। लेकिन इतने प्रसिद्ध लेखक के जीवन के विषय में हमारा ज्ञान अपूर्ण है। जनश्रुति भी इस दिशा में हमारी कोई विशेष सहायता नहीं करती। सामान्यतः इन्हें वैराग्यशतक, नीतिशतक और शृङ्गारशतक का प्रणेता माना जाता है तथा इनका रचना-काल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध ठहराया जाता है।

शृङ्गार-शतक—इसमें काम की विभिन्न स्थितियों, स्त्रियों के हाव-भाव, कटाक्ष, गति और वचनों का हृदयस्पर्शी वर्णन है। इसमें दिखलाया गया है कि शूर से शूर पुरुष भी कामदेव का गर्व चूर करने में असमर्थ रहता है। इनका कथन है कि स्त्री का प्रत्येक कर्म और भाव मोहक होता है—

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षणैः।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः॥

इसी प्रकार से एक स्थल पर कवि कहता है कि स्त्रियों को अबला कहना ठीक नहीं क्योंकि इनके प्रभाव और शक्ति से तो इन्द्र आदि भी नहीं बच सके—

नूनं हि ते कविवरा विपरीतवाचोये नित्य माहुरबला इमिकामिनीस्ताः।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाकथंताः॥

इस प्रकार से कवि ने इस शतक में शृंगार रस का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है।'

वैराग्यशतक—इसमें सांसारिक सुखों की अस्थिरता तथा मानव-जीवन की दुःखमयता का प्रभावोत्पादक चित्रण है। कवि का कथन है कि मानव-जीवन का प्रतिक्षण नाश, व्यग्रता, विपत्ति, भय, मरण आदि दुःखों से आपूर्ण है। अतः मनुष्य को इस जीवन से तनिक मोह नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को तो पर्वतीय प्रदेश में बैठकर ब्रह्म के ध्यान में मग्न होना और विलीन होना चाहिए क्योंकि इसी के द्वारा मनुष्य को वास्तविक सुख और अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

नीतिशतक—इसमें कवि ने विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, उदारता, परोपकार-परायणता आदि वृत्तियों का वर्णन किया है। समस्त रचना प्रसाद और माधुर्य गुणों से आप्लावित है। इसलिए कवि के कितने ही वाक्य सूक्तियों के रूप में प्रचलित हो गये हैं।

अमरुक—इनके अमरु और अमरुक दो नाम मिलते हैं। ये कब और कहाँ हुए इस सम्बन्ध में कुछ ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। लेकिन फिर भी विभिन्न विद्वानों के अनुसार इनका रचनाकाल ७०० ई० के लगभग माना जाना चाहिए। विद्वानों ने अपने इस अनुमान की पुष्टि निम्न तर्कों से की है—(क) श्री आनंदवर्धनाचार्य, जिनका रचनाकाल ८५० ई० है, ने ध्वन्यालोक में अमरुक का उल्लेख किया है अतः अमरुक ८५० ई० से पहले हुए।

(ख) वामन ने जिनका रचनाकाल ८०० ई० है अपने ग्रंथ में अमरुक के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः अमरुक ८०० ई० से पहले रहे होंगे।

अमरुक के नाम से केवल एक ही रचना अमरुकशतक प्राप्त होती है। इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं जिनमें पूर्ण समानता नहीं पाई जाती। इन विभिन्न संस्करणों में पद्य संख्या ९० से ११५ तक पाई जाती है। इन विभिन्न पद्यों में केवल ५१ पद्य समान हैं।

अमरुकशतक सहृदयों का हृदय-हार है। इसमें शृंगार की विविध स्थितियों के एक से एक सुन्दर चित्र भरे पड़े हैं। इसमें एक ओर दम्पतियों के प्रेमालाप तथा मान-मनौवन के पारिवारिक चित्र हैं, तो दूसरी ओर गुप्त

प्रणय चित्रों की भी कमी नहीं है। वस्तुतः प्रणय के विभिन्न दृश्यों का नियोजन करने में कवि पूर्णतः सफल है। इसीलिए यदि वह एक स्थान पर मुग्धा नायिका की लज्जाशीलता का वर्णन करते हुए निम्न पद कहता है—

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वांछत्यपहरति गात्राणि निभृतम्।
न शक्नोटपारव्यांतु स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः॥

तो दूसरी ओर प्रवत्स्यत्पतिका नायिका (वह नायिका जिसका पति परदेश जाने वाला हो) की हृदय-विह्वलता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हुए उसका कथन है—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैजस्त्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गंतुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसिप्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवितप्रिय सहृत्सार्थः किमुत्यज्यते॥

अमरुक ने अपने काव्य में कलापक्ष की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। वह तो भावपक्ष के प्रवाह में इतना बह जाता है कि अर्थ या शब्द को सोच-सोच कर रखने की उसे सुधि ही नहीं रहती। लेकिन इसके द्वारा यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि अमरुक के यहाँ प्रासादिक एवं प्राञ्जल भाषा का अभाव है। वस्तुत भावों के प्रवाह में कवि की भाषा स्वयं ही सशक्त हो गई है। इसी प्रकार से अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग भी देखते ही बनता है। इतना ही नहीं अमरुक में संक्षेप की भारी शक्ति भी परिलक्षित होती है। इस संक्षेप में उनके भावों का सौन्दर्य, मनोहारिता और वैदग्ध्य किसी प्रकार क्षीण नहीं होता। निम्न पद्य में नायक और मानिनी नायिका का संवाद हमारे इसी कथन का प्रमाण है—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनिरूषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।

तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ।।

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से अमरुक का काव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और अर्जुनवर्मदेव द्वारा उनके सम्बन्ध में कही गई निम्न उक्ति नितांत सत्य है—

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता जयति ।
शृंगार भजितिरन्या धन्यानां श्रवणविवरेषु ।।

बिल्हण—'विक्रमांकदेव चरित्' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य के प्रणेता बिल्हण 'चौरपंचाशिका' नामक गीतिकाव्य के प्रणेता भी माने जाते हैं। जन-श्रुति है कि किसी राजकुमारी से गुप्त प्रेम करने पर कवि को प्राण-दण्ड मिला। उसने वध-स्थल पर जाते हुए अपने प्रणय की स्मृति के रूप में ५० श्लोक बनाए और गाए। राजा इन पद्यों से बहुत प्रभावित हुआ और उसने कवि को क्षमा कर राजकुमारी के साथ विवाह कर दिया। लेकिन इतिहासज्ञ उपर्युक्त घटना को पूर्णतः असत्य ठहराते हैं। कीथ के मतानुसार बिल्हण सम्बन्धी यह किंवदन्ती कपोल-कल्पित है। विक्रमांकदेव चरित में प्राप्त होने वाले कवि के जीवनवृत्त से भी यह जनश्रुति मेल नहीं खाती। काव्यत्व की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत सुन्दर बन पड़ा है। सरस और मधुर शैली के माध्यम से कवि ने सुखमय प्रेम के बीते दृश्यों के जो सूक्ष्म और विस्तृत चित्र उतारे हैं वे अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं। इसी प्रकार से प्रेमी के अपने अपराध की क्षमा माँगने का निम्न दृश्य भी अति सुन्दर है—

अद्यापि तामविगणय्य कृतापराधं
मां पादमूलपतितं सहसा गलन्तीम् ।
वस्त्रांचलं मम करात् निजमाक्षिपन्तीं
मा मेति रोषपरुषं ब्रुवन्तीं स्मरामि ।।

कवि की इस रचना का अनुशीलन करते समय यह दृष्टव्य है कि प्रत्येक पद्य का आरम्भ अद्याऽपि नामक पद से हुआ है।

धोया—ये बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित कवि थे। इन्होंने मेघदूत के अनुकरण पर 'पवनदूत' नामक काव्य का प्रणयन किया है। इस काव्य में एक गन्धर्व कन्या कवि के आश्रयदाता लक्ष्मणसेन के पास पवन के द्वारा अपना प्रणय-सन्देश भेजती है। इसी कारण इस काव्य का नाम पवन-दूत रक्खा गया है। काव्य-कौशल की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। इसका वाक्य-विन्यास मनोरम तथा प्रवाह स्वाभाविक है।

गोवर्धनाचार्य—बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित कवि गोवर्धनाचार्य भी गीतिकाव्य के प्रणेता के रूप में प्रख्यात हैं। इन्होंने आर्यासप्तशती नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। यह ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है तथा इसमें शृंगार रस का स्निग्ध-चित्रण हुआ है। शृंगार रस के दोनों पक्षों संयोग और वियोग के मार्मिक और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करने में कवि को पर्याप्त सफलता की प्राप्ति हुई है। प्रेमी-प्रेमिकाओं के अन्तस्तल की भावनाओं को साकार रूप देने में कवि पूर्ण कुशल प्रतीत होता है। लेकिन कवि ने ऐसा करते समय सादृश्यमूलक अलंकारों और ध्वनि से बहुत अधिक सहायता ग्रहण की है। फलतः इनका काव्य कुछ कठिन हो गया है। लेकिन इतना होते हुए भी गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव द्वारा इनके सम्बन्ध में कही गई निम्न उक्ति सत्य ही उतरती है—

"शृङ्गारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।"

जयदेव—संस्कृत साहित्य की गीतिकाव्य परम्परा में महाकवि जयदेव का महत्वपूर्ण स्थान है। ये बंगाल के 'किन्दुबिल्व' नामक ग्राम के वासी थे, गोवर्धनाचार्य और धोयी के सम-सामयिक थे। बंगाल नरेश लक्ष्मणसेन की राजसभा के प्रमुख रत्न थे और ११०० ई० के लगभग विद्यमान थे।

जयदेव की कीर्ति का मूल आधार उनकी एकमात्र कृति गीतिगोविन्द है। इस कृति में राधा और कृष्ण के प्रेम का वार्तालाप के रूप में वर्णन किया गया है। इसमें प्रेम के प्रत्येक पक्ष को लिया गया है। भारतीय टीकाकार इस गीतिकाव्य के प्रेम की रूपकात्मक व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार इसमें

कृष्ण ब्रह्म के प्रतिनिधि हैं और राधा जीवात्मा की। लेकिन गीति-गोविन्द अपने आध्यात्मिक पक्ष के कारण प्रसिद्ध है। उसकी प्रसिद्धि का मूल कारण उनकी ललित पदावली और गेयता है। उसमें दुर्बोधता या क्लिष्टता का लेशमात्र भी नहीं है। वहाँ तो सर्वत्र लघुपदों की वेगवती धारा पाठकों को मन-मुग्ध कर देती है। इतना ही नहीं कवि छन्दों के प्रणयन में भी सिद्धहस्त दीखता है उदाहरण के लिए निम्न पद देखिए—

कथित समयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवाचनवंचिता
मम मरणमेव वरमिति विनथ केतना ।।
किमिति विपहामि विरहानलमचेतना ।।

कवि का यह ग्रंथ कितना लोकप्रिय रहा है इस तथ्य का अनुमान इस से लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ पर अनेकों टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, अनेकों कवियों ने इसके अनुकरण पर काव्य रचे हैं। इतना ही नहीं अनेकों भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुकरण भी हो चुका है।

पण्डितराज जगन्नाथ—संस्कृत गीतिकाव्य के इतिहास में जयदेव के उपरान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम पण्डितराज जगन्नाथ का है। ये तैलंग ब्राह्मण थे. तथा अपने युवाकाल में सम्भवतः मुगल दरबार में गए और शाहजहाँ से पण्डितराज की उपाधि प्राप्ति की। इन्होंने १३ ग्रंथों का प्रणयन किया किन्तु गीतिकाव्य के क्षेत्र में इनकी एक ही 'कृति भामिनी-विलास' मिलती है। इसमें चार विलास हैं—प्रस्ताविक विलास, शृंगार-विलास, करुण-विलास तथा शान्त विलास। इसके पद्य अत्यन्त सरस, सुन्दर, भावपूर्ण और मन पर एकदम प्रभाव डालने वाले हैं। इनकी शैली भी अत्यन्त मधुर एवं लालित्यपूर्ण है। शब्द-शोधन में भी ये पर्याप्त कुशल हैं। इनके पद्यों के अत्यधिक हृदयस्पर्शी होने का एक कारण उनका (पद्यों का) अभिनव विचार-धारा से युक्त होना भी है। इनकी रचना का एकाध उदाहरण देखिए—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः
सा मामकीनकवितेव मनोभिरामा
रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति ॥

इस पद्य में कविता और प्रियतमा की श्लेषपूर्ण तुलना की गई है। अपनी विशेषताओं से कवि अपरिचित हो ऐसी बात नहीं है। वह तो स्वयं ही कहता है—

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचमति रसम् ॥
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पाण्डितपते
रधुन्वन मुर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः ।



: ८ :

ऐतिहासिक काव्य

प्रश्न ३१—ह्विटने कृत संस्कृत ग्रामर की भूमिका में लिखे गए इस कथन की 'भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई सारी की सारी तिथियाँ कागज में लगाई गई उन पिनों के समान हैं जो फिर से निकाली जाती हैं' विवेचना कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि इस प्रकार के कथनों का प्रादुर्भाव क्यों हुआ ?.

संस्कृत साहित्य ने अन्य क्षेत्रों में जहाँ कमाल कर दिखाया है वहाँ इतिहास विषयक क्षेत्र में इसमें बहुत ही कम सामग्री पाई जाती है। इतिहास विषयक ग्रन्थ संख्या में ही कम हों केवल यही बात नहीं है अपितु कभी-कभी उनमें कल्पना की मिलावट भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इसके साथ ही विभिन्न कवियों और नाटककारों के जीवन-काल के निर्धारण में भी विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। यह तथ्य केवल छोटे-छोटे लेखकों पर लागू होता हो केवल ऐसी ही बात नहीं है अपितु भास और कालिदास जैसे प्रसिद्ध लेखकों के सम्बन्ध तक में है। यह मत-भेद भी केवल दस-पाँच वर्षों का ही हो ऐसी बात भी नहीं है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में तो यह मत-भेद पाँच-पाँच, छः-छः शताब्दियों तक का पाया जाता है और सम्भवतः इसीलिए ह्विटने ने उपर्युक्त स्थापना की थी।

संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक तत्वों के अभाव का कारण क्या है इस सम्बन्ध में सन्तोषजनक उत्तर देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर भी निम्न तथ्यों के आधार पर संस्कृत में ऐतिहासिक तत्व के अभाव के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

१. इतिहास शब्द का जो अर्थ पश्चिम में लिया जाता है भारतीय लोग उस अर्थ को नहीं लेते थे। आर्य लोगों का ध्यान भारतीय संस्कृति और सभ्यता

की रक्षा की ओर लगा हुआ था। संस्कृत और सभ्यता की उन्नति में सहायता करने वाले को छोड़कर किसी अन्य राजा, महापुरुष या अपना इतिहास लिखने में आर्य लोगों की अभिरुचि नहीं थी। भारतीयों के बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास की एक-एक मंजिल का जैसा सूक्ष्म उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है वैसा विश्व के किसी अन्य साहित्य में नहीं। इस युक्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव नहीं था अपितु वे इतिहास का अर्थ ही और लेते थे।

२. भारतीय मनोविज्ञान और परिस्थितियों की विशेषताएँ, कर्म का और भाग्य का सिद्धान्त, मंत्र-यंत्र में तथा जादू में विश्वास, वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव ऐसी बातें हैं जो एक बड़ी सीमा तक इतिहास के अभाव का कारण हैं। यहाँ तक कि जैनियों और बौद्धों में भी ऐसा ही विश्वास था।

३. १२०० ई० तक भारत के राजनैतिक इतिहास में भी कोई सर्वप्रिय बनने वाली बात पैदा नहीं हुई।

४. भारतीयों में राष्ट्रीयता के भावों का न होना भी इसका एक बड़ा कारण है।

५. भारत के साधारण लोग पूर्ववर्त्ती या समकालीन राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति काव्यों में अभिरुचि नहीं रखते थे। यही कारण है कि अक्षय यश की कामना रखने वाले कवियों ने अपनी कृतियों के कथानक प्रायः समकालीन वीरों या राजाओं के जीवन से न चुनकर रामायण तथा महाभारत में से अधिक चुने। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि श्री हर्ष कृत नैषधचरित् पर (जिसका कथानक महाभारत के नलोपाख्यान में से लिया गया है) तो अनेकों टीकाएँ उपलब्ध हैं किन्तु नवसहसांक चरित् जो ऐतिहासिक रचना है, विस्मृति के गर्भ में जा पड़ा है।

६. भारतीय लोग विशेष की अपेक्षा साधारण को अधिक पसन्द करते हैं। यहाँ तक कि जब दो विरोधी पक्षों पर ऊहापोह किया जाता है तब भी व्याख्याकारों के जीवन के सम्बन्ध में अधिक बातें न कह कर केवल विवाद

संबन्धिनी युक्तियां ही प्रस्तुत की जाती हैं। जब दर्शन के भिन्न-भिन्न संप्रदायों की व्याख्या की जाती है तब भी ऐतिहासिक काल को गौण ही रक्खा जाता है।

७. पुराने साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ कुटुम्ब-ग्रन्थों, सम्प्रदाय-ग्रन्थों या मठगुरु-ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध होते हैं जिनके प्रणेताओं के नामों का उल्लेख भी नहीं मिलता।

८. परवर्ती साहित्य में जब रचयिताओं के नाम मिलते हैं तो वे भी कुटुम्ब या गोत्र के रूप में मिलते हैं यथा किसी ग्रन्थ का लेखक गुप्ता प्रसिद्ध है तो किसी का शर्मा, किसी का राय तो किसी का चक्रवर्ती। अतः यह पता कि कोई कवि विक्रमादित्य या भोज के राज्यकाल में हुआ, ऐतिहासिक दृष्टि से केवल इतना ही सहायक हो सकता है जितना कि यह पता कि अमुक घटना जार्ज पंचम या एडवर्ड के राज्यकाल में हुई।

९. यदि किसी प्रणेता का नाम मिलता भी है तो उसके माता-पिता का नाम नहीं दिया गया। एक ही नाम के अनेक प्रणेता हो सकते हैं।

१०. कभी-कभी एक ही नाम भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता है। भारतीयों में नामों के पर्याप्त तथा संक्षिप्त रूप व्यवहार में लाने की यह प्रवृत्ति सभी कालों में दृष्टिगत होती है।

किन्तु उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का पूर्ण अभाव था। वस्तुतः इतिहास के क्षेत्र में पुराणों और अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त निश्चित तिथियों से युक्त अनेक शिलालेख विद्यमान हैं। ज्योतिष ग्रंथकारों ने तो ग्रन्थ समाप्ति तक की निश्चित तिथियां दी हैं।

प्रश्न ३२—संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक काव्यों का संक्षेप से निरीक्षण कीजिए।

संस्कृत साहित्य में सभी विषयों का विशद विवेचन हुआ है किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि विषय के रूप में इतिहास का विवेचन नहीं

हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसके अनेक कारण बतलाए हैं। ऐतिहासिक काव्यों के न रचे जाने के कुछ कारण भारतीय विद्वानों द्वारा भी प्रस्तुत किए गए हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि संस्कृत में लौकिक घटनाओं को लेकर इतिहास ग्रन्थों का प्रणयन ही नहीं किया गया। वास्तव में पुराणों में जिस तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का चित्र खींचा गया है वह किसी भी इतिहास ग्रन्थ से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार से बौद्धों और जैनों के ग्रन्थों में भी ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन राजाओं की प्रशस्तियों में भी ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों तथा गद्य-काव्यों में भी ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है, यद्यपि यह सत्य है कि यह सामग्री काल-क्रम की दृष्टि से उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी उस युग की अवस्था से परिचय प्राप्त कराने के लिए, लेकिन इन सभी ग्रन्थों के साथ ही साथ संस्कृत में कुछ ऐसे ग्रंथों का प्रणयन भी हुआ है जो भारत के मध्यकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। हर्षचरित, नवसाहसांक चरित, विक्रमांकदेव चरित और राजतरंगिणी आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-मोटे ग्रन्थों का परिचय भी प्राप्त होता है किन्तु उन सभी का विवेचन करना हो तो इस छोटे से निबन्ध में न सम्भव ही है और न आवश्यक ही।

संस्कृत साहित्य में उपलब्ध सर्वप्रथम ऐतिहासिक काव्य बाणभट्ट विरचित हर्षचरित है। आठ उच्छ्वासों में विभक्त इस ग्रंथ में कवि ने महाराज हर्षवर्धन का जीवन-चरित अंकित किया है। महाराज हर्षवर्धन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका शासन-काल ६०६-६४८ ई० माना जाता है। इस प्रकार बाण विरचित यह ग्रन्थ ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध होने के कारण ऐतिहासिक ग्रन्थ मान लिया जाता है।

'हर्ष-चरित' में यद्यपि कवि ने ऐतिहासिक घटनाओं को पर्याप्त मात्रा में अपनाया है किन्तु इस ग्रन्थ को शुद्ध ऐतिहासिक काव्य की पदवी से विभूषित

करना कवि के साथ अन्याय करना होगा। वस्तुतः बाण ने ऐतिहासिक कथानक को अपनाकर भी काव्य-शैली का सुन्दर प्रयोग किया है। उसने अपनी रचना के प्रथम सर्ग में अपने पूर्व के श्रेष्ठ कवियों व गद्य लेखकों की प्रशंसा की है। इसी सम्बन्ध में उसने यह भी बतलाया है कि उदीच्य लोग काव्य में श्लेष अलंकार को अधिक पसंद करते हैं, पाश्चात्य लोग अर्थ पर ध्यान देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा को पसन्द करते हैं और गौड़ देश के कलाकार अक्षराडम्बर में ही काव्य की रमणीयता मानते हैं यथा—

श्लेषप्राचयुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येसु गौडेष्वक्षराडम्बरः ॥

इसी उच्छवास में बाण ने अपने वंश का परिचय भी दिया है।

द्वितीय उच्छ्वास में बाण को कृष्ण का पत्र मिलता है और वह राजा के दर्शन के लिए अपने गाँव से रवाना होता है। राज-सभा में पहुँच कर आरम्भ में तो बाण को किसी सम्मान की प्राप्ति नहीं होती किन्तु बाद में वह राजा के विश्वासपात्र बन जाते हैं। तृतीय उच्छवास में यह वर्णन है कि बाण कुछ दिनों के बाद अपने गाँव लौटते हैं और उनके भाई उन्हें हर्ष का जीवन-चरित लिखने को कहते हैं। इस उच्छ्वास में स्थाणीश्वर का विस्तार से अलंकृत वर्णन है तथा उसके राजाओं के कुल का वर्णन करते हुए एक काल्पनिक अर्ध ऐतिहासिक नरेश पुष्पभूति की ओर संकेत किया गया है जो हर्ष का पूर्वज था। यहीं पृष्ठभूमि तथा भैरवाचार्य नामक शैव योगी का सुन्दर वर्णन किया गया है।

वस्तुतः हर्ष-चरित का वास्तविक कथानक चतुर्थ उच्छ्वास से आरम्भ होता है। इसी तथा आगामी उच्छ्वास के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि हर्ष के पिता का नाम प्रभाकर-वर्धन और माता का नाम यशोवती था। हर्ष के एक भाई राज्यवर्धन और एक बहिन राज्यश्री थी। राज्यश्री का विवाह मौखरि वंश के क्षत्रिय नरेश अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा से हुआ। लगभग ७०५ ई० में हूणों ने प्रभाकरवर्धन के राज्य के उत्तर भाग पर आक्रमण किए।

उन्होंने राज्य-वर्धन को एक बड़ी सेना देकर हूणों से युद्ध करने के लिए प्रेषित किया। राज्यवर्धन के वापिस आने से पहले ही प्रभाकर-वर्धन का देहान्त हो गया। प्रभाकर-वर्धन के देहावसान से पूर्व ही यशोवती विधवा होने के डर से अग्नि में प्रवेश करके सती हो गई थी।

षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन हूणों पर विजय प्राप्त करके वापिस लौट आता है। वह राज्य-भार हर्ष को सौंप देना चाहता है किन्तु इसी बीच में ज्ञात होता है कि मालव नरेश ने गृहवर्मा की हत्या कर दी है और राज्यश्री को कारागार में डाल दिया है। राज्यवर्धन यह समाचार सुनते ही मालवराज पर चढ़ाई करने के लिए प्रस्थान कर देता है। कुछ समय के उपरान्त ज्ञात होता है कि राज्यवर्धन ने मालवनरेश को तो पराजित कर दिया था किन्तु वापिस आते समय गौडाधिप के द्वारा मारा गया। हर्ष उसी समय युद्ध की घोषणा करना चाहता है किन्तु सेनापति सिंहनाद के कहने पर वह कुछ समय के लिए रुक जाता है।

सप्तम उच्छ्वास में हर्ष के सेना-प्रयाण का विस्तार-पूर्वक वणन है। प्राग्ज्योतिप (आसाम) के नरेश का एक दूत हर्ष के पास आकर उसे दिव्य आतपत्र भेंट करता है तथा इसी सम्बन्ध में छत्र की दैवी उत्पत्ति की काल्पनिक कथा पाई जाती है।

अष्टम उच्छ्वास में हर्ष विन्ध्याटवी पहुँचता है तथा निषाद के पास राज्यश्री को ढूँढने के लिए वन में निकल पड़ता है। वे दोनों ऋषि दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचते हैं। हर्ष दिवाकर मित्र से राज्यश्री के सम्बन्ध में पूछता है। उसी समय एक भिक्षु आता है और किसी स्त्री की चिता में जलने की तैयारी की सूचना देता है। हर्ष दौड़ता है और ठीक समय पर पहुँच कर राज्यश्री को चिता में जलने से बचा लेता है। राज्यश्री दुःखी जीवन को समाप्त कर देना चाहती है किन्तु दिवाकरमित्र समझा-बुझा कर हर्ष के साथ घर जाने का परामर्श देते हैं और अन्ततः राज्यश्री राजी भी हो जाती है। हर्ष और वह अपने घर वापिस लौट आते हैं।

'हर्ष-चरित' के उपयुक्त कथानक में बाण ने कल्पना का पर्याप्त प्रयोग किया है। वस्तुतः कवि को जहां भी अवसर मिलता है वहीं उसकी कल्पना-शक्ति अपना चमत्कार दिखलाने लगती है। लेकिन इतना होते हुए भी ऐतिहासिक तथ्यों की नितान्त उपेक्षा कहीं भी नहीं की गई है। वस्तुतः हर्षचरित में जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है वे सभी चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णनों से मेल कर जाती हैं। इतना ही नहीं बाण की इस रचना से हमें उस युग की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी अवबोध होता है। इसीलिए तो टी. वरदाचारी अपनी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं—'बाण ने इतिहास को यह सामग्री प्रदान की है—सेना का विषद चित्रण, राजद्वार का विस्तृत परिचय, विविध सम्प्रदायों के अनुयायियों और उनका बौद्धों के पास व्यवहार का वर्णन, ब्राह्मणों के विविध कार्य और अपने मित्रों का परिचय। इस प्रकार से हर्षचरित्र का ऐतिहासिक काव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।'

संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक काव्य-ग्रंथों की परम्परा में दूसरा उल्लेखनीय ग्रंथ पद्मगुप्त विरचित 'नवसाहसांक चरित' है। ये (पद्मगुप्त) धार नरेश मुंज तथा उनके पुत्र सिंधुराज (नवसाहसांक) के राजकवि थे और इन्होंने इस ग्रंथ की रचना १००५ ई० के लगभग की थी। इसमें सिंधुराज द्वारा राजकुमारी शशिप्रभा की प्राप्ति की कथा का वर्णन है परन्तु साथ ही मालव के राजा सिंधुराज नवसाहसांक का इतिसास भी सूचित किया गया है।

यह ग्रंथ एक प्रशस्ति मात्र है अतः लम्बी वक्तृताओं और विस्तृत वर्णनों के कारण कथा प्रवाह प्रायः अवरुद्ध हो गया है। लेकिन फिर भी इस ग्रंथ से तत्कालीन इतिहास के अनेक विश्वसनीय तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, जिनकी पुष्टि शिलालेखों तथा अन्य बहिरंग प्रमाणों से भी होती है। इतना ही नहीं सिंधुराज के पूर्ववर्ती समस्त परमार वंशी राजाओं का कालक्रमानुसार एवं इतिहासानुमोदित वर्णन भी प्राप्त होता है। इस प्रकार यह काव्य परमारों के इतिहास के लिए भी नितान्त उपादेय है।

१८ सर्गों में निबद्ध यह ग्रन्थ काव्य-कला की दृष्टि से भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। इस काव्य में कवि ने वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है और १६ विभिन्न प्रकार के छंदों में विभिन्न पदों का निर्माण करके अपने कौशल का परिचय दिया है।

संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक काव्य-ग्रंथों में तीसरा उल्लेखनीय ग्रंथ विह्लण विरचित विक्रमांकदेव चरित है। यह ग्रन्थ १८ सर्गों में विभाजित हैं और १०८५ ई० में कल्याण के चालुक्य राजा छठे विक्रमादित्य के राज्य-काल की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता तथा उसके पूर्वजों के जीवन-चरित का वर्णन भी किया है। साथ ही अपने आश्रयदाता की मृगया यात्रा तथा राजकुमारी चन्द्रलेखा के साथ विवाह की गाथा भी अंकित की है। ये सभी वर्णन तत्कालीन शिलालेखों से भी पूर्णतः मेल खाते हैं और इस प्रकार से कृति को ऐतिहासिक रचना होने का गौरव प्रदान करते हैं। किन्तु विह्लण ने इस ग्रंथ में ऐतिहासिक तथ्यों का नीरस वर्णन ही प्रस्तुत किया हो ऐसी बात नहीं है। उसने स्थान-स्थान पर पौराणिक और अलौकिक कथा-प्रसंगों के उल्लेख से तथा अपने देशाटन के रोचक वर्णन द्वारा काव्य को अत्यन्त रमणीय बना दिया है। सरल और प्रसादपूर्ण वैदर्भी शैली, अनुरूप दृष्टांत, सरस पद-विन्यास एवं विशद भाव प्रकाशन की छटा तो इस रचना में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है।

संस्कृत साहित्य के अधिकांश कवियों का जीवन-चरित् अन्धकार के गर्त्त में छिपा पड़ा है किन्तु विह्लण इसका अपवाद है। इसका कारण यह है कि उसने अपने जीवन के सम्बन्ध में अनेक तथ्य 'विक्रमांकदेव चरित' के अन्तिम सर्ग में प्रस्तुत कर दिए हैं।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि कह्लण का नाम सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक काव्य-प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध है। महाकवि कह्लण काश्मीर नरेश त्रिजयसिंह के मंत्री चंपक के पुत्र थे। इन्होंने आदिकाल से लेकर सन् ११५१ ई० तक के काश्मीर के प्रत्येक ...नकाल की घटनाओं का क्रमानुसार

विवरण राजतरंगिणी नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। अपने ग्रन्थ की रचना के लिए उन्होंने ग्यारह पुराने ऐतिहासिक ग्रन्थों नीलमत पुराण, जनश्रुति पद्ममिहिर और छविल्लाकर आदि के कथनों, शिलालेख, भूदानलेख, प्रशस्तियों मंदिरों और प्रासादों के स्मारक लेख, सिक्कों के अध्ययन, ऐतिहासिक भावों के पर्यवेक्षण, भिन्न-भिन्न वंशों के ऐतिहासिक लेखों और स्थानीय दंत-कथाओं का पूरा-पूरा प्रयोग किया है। अपने समय की तथा उससे ५० वर्ष पूर्व की घटनाओं का वर्णन अपने पूर्वजों तथा संभ्रांत व्यक्तियों से पूछ कर किया गया है। इस प्रकार से विभिन्न स्थलों से विभिन्न प्रकार की सामग्री का चयन कर, अपने काव्य का ठाठ खड़ा किया है। इतना ही नहीं उसने विभिन्न राजाओं अथवा क्रियाकलापों की तिथियों की ओर भी संकेत किया है जो संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में सर्वप्रथम इसी में देखने को मिलता है। तत्कालीन राज-नैतिक तथा सांस्कृतिक अवस्थाओं का चित्रण भी इसी पुस्तक में देखने को मिलता है। प्रत्येक राजा के वर्णन में उसके व्यक्तिगत एवं राजनीतिक जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख भी किया गया है। इस प्रकार से कवि ने अपनी कृति के द्वारा एक सच्चे इतिहासकार होने का परिचय दिया है। लेकिन इतना होने पर भी कल्हण को इतिहासज्ञ की पदवी से विभूषित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि नवीं शताब्दी के पूर्व का इतिहास अधूरा और अस्पष्ट दिया गया है। कहीं-कहीं काल-गणना भ्रांतिपूर्ण हो गई है और कहीं-कहीं कुछ घटनाएँ अन्धविश्वास पर आधृत हैं।

काव्य-कौशल की दृष्टि से कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। कवि-कल्पना, रस, अलङ्कार आदि का समुचित समावेश हमें इस कृति में देखने को मिलता है। वैदर्भी शैली के प्रयोग में कवि पूर्णतः दक्ष प्रतीत होता है। संवाद और चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में कवि को अद्वितीय सफलता की प्राप्ति हुई है।

कल्हण के उपरान्त भी संस्कृत साहित्य में अनेक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे गए। ऐसे काव्यों में सर्वप्रथम जल्हण विरचित 'सोमपाल विलास' उल्लेख-नीय है। इसमें राजपुरी के नरेश सोमपाल विलास का जीवन वर्णित है।

इसके अनन्तर ११६३ ई० में लिखे गए हेमचन्द्र विरचित 'कुमारपाल चरित' अथवा 'द्वयाश्रय काव्य' का नाम आता है। इसमें चालुक्य राजा कुमारपाल का चरित है। १२०० ई० में हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के आश्रित कवि जयनायक द्वारा लिखा गया 'पृथ्वीराज विजय' नामक महाकाव्य भी पर्याप्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दिल्ली और अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज का वर्णन है। गुजरात के सोमेश्वरदत्त द्वारा लिखी गई दो प्रशस्तियाँ 'कीर्ति-कौमुदी' और 'सुरथोत्सव' भी ऐतिहासिक रचनाएँ मानी जाती हैं। इसी प्रकार से अरिसिंह विरचित 'सुकृतसंकीर्तन' नामक प्रशस्ति भी सोमेश्वरदेव के ऐति-हासिक लेखों की प्रामाणिकता आँकने में सहायक है। संध्याकरनन्दिन् विरचित रामपाल चरित द्वारा केवल बंगाल नरेश रामपाल के पराक्रमों का ही वर्णन प्राप्त नहीं होता है अपितु आसाम, बिहार, मध्यप्रान्त और उडीसा के इतिहास के लिए भी बहुमूल्य सामग्री प्राप्य होती है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शम्भु विरचित 'राजेन्द्रकर्णपूर' श्रीवर विरचित 'जैनराज तरंगिणी' शुक विरचित 'राजावलिपताका' डिडिम विरचित 'अच्युतरायाभ्युदय' गंगादेवी विरचित 'वीर कंपराय चरित' या 'मधुराविजय' नामक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। 'आर्यमंजूश्री-कल्प', 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'सुरजनचरित' नामक ग्रन्थों में भी ऐति-हासिक सामग्री पर्याप्त मात्रा में भरी पड़ी है। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कल्हण के पश्चात् लिखे गए ग्रन्थों में किसी को भी उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई है जितनी स्वयं कल्हण को हुई थी।



: ६ :

कथा-साहित्य

प्रश्न ३३—संस्कृत-कथा-साहित्य के उद्भव और विकास पर एक निबंध लिखिए।

मनुष्य स्वभावतः कथा प्रेमो है। कथाओं के कहने और सुनने में उसे विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है। कथाओं के लोक-प्रिय होने का कारण यह भी है कि वह कलेवर में संक्षिप्त तथा रोचक हुआ करती हैं साथ ही घरेलू घटनाओं के द्वारा पाठकों के चित्त पर प्रभाव डालने में भी समर्थ होती हैं। फलतः कथाओं और आख्यानों ने साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

यह ज्ञात नहीं है कि कथा साहित्य के आरंभ के समय कौन सी भाषा और कौन से रूप का आश्रय लिया गया था किंतु इस संबंध में कोई भी मतभेद नहीं है कि विश्व साहित्य में संस्कृत के आख्यान साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। मौलिकता, रचना-नैपुण्य तथा विश्व-व्यापक-प्रभाव की दृष्टि से वह अनुपम और अद्वितीय सिद्ध हो चुका है।

विद्वानों ने संस्कृत कथा साहित्य को दो भागों में विभाजित किया है—नीति-कथा और लोक-कथा। आगामी पंक्तियों में हम इन्हीं दोनों भेदों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे। अस्तु !

नीति कथा—नीति कथाएँ भारतीय साहित्य की एक मुख्य विशेषता रहीं हैं। पतंजलि के एक कथन से इनकी सत्ता ई० सन् से पूर्व ज्ञात होती है। इतना ही नहीं पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार तो इन कहानियों का उदय वैदिक काल में हुआ प्रतीत होता है। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त तथा छान्दोग्य उपनिषद् के शौक उद्‌गीथ में इस प्रकार के आख्यानों के स्पष्ट संकेत हैं।

महाभारत में इन कहानियों का उपयोग राजनीति के दुरूह सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए किया गया है। पालि भाषा में लिखित जातक नीति-कथाओं के अग्रणी हैं। भरहूत के स्तूपों पर अनेक जातक कहानियाँ अंकित की गई हैं।

नीति-कथा के प्रतिनिधि ग्रन्थ पंचतंत्र और हितोपदेश हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तंत्राख्यायिका, सरल ग्रन्थ, नीतिसागर आदि ग्रन्थ भी गिनाए जाते है। किंतु वस्तुतः वे तो इन्हीं मूल ग्रंथों के रूपान्तर मात्र हैं।

पंचतंत्र—विष्णु शर्मा द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ के आज २०० से अधिक संस्करण निकल चुके हैं, अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है तथा जावा से लेकर आइसलैण्ड तक इसका पठन-पाठन होता है किंतु दुर्भाग्य से इस ग्रन्थ के विकृत एवं परिवर्द्धित रूप के ही दर्शन होते हैं और मौलिक रूप का कोई भी पता नहीं है। इतना ही नहीं विद्वानों में तो इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है कि इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम क्या था, इसका उत्पत्ति स्थान कौन सा है तथा इसका प्रणयन किस समय था ? परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी विभिन्न संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इन सभी प्रश्नों को सुलझाया जा सकता है। अस्तु !

नाम—इस ग्रन्थ का असली नाम अवश्य ही पंचतंत्र रहा होगा क्योंकि दक्षिण और नेपाल आदि सभी देशों तथा हितोपदेश और उन सभी संस्करणों में जिनमें कोई नाम नहीं दिया गया है, यही नाम आता है उदाहरणतः हितोपदेश के प्रणेता का कथन है—

पंचतन्त्रात् तथाऽन्य अस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते।

अर्थात् पंचतन्त्र और दूसरे ग्रन्थों से आशय लेकर यह ग्रंथ लिखा जाता है। इसी प्रकार से पंचतन्त्र की भूमिका में भी लिखा है—

एतत् पंचतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्।

यहाँ पर तन्त्र शब्द का अर्थ है किसी ग्रंथ का एक अध्याय या खण्ड। आभ्यन्तरिक साक्ष्य से भी इसकी पुष्टि होती है—

तन्त्रैः पंचीभरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ।

इस प्रकार के नाम भी मिलते हैं यथा अष्टाध्यायी (आठ अध्यायों की एक पुस्तक—पाणिनि के व्याकरण का नाम) । सम्भवतः 'तन्त्र' शब्द से अभिप्रेत उस ग्रन्थ खण्ड से हो जिसमें 'तन्त्र' का अर्थात् राजनीति और व्यवहारोपयोगी ज्ञान का निरूपण हो । प्रो० हर्टल ने तन्त्र का अर्थ दाँवपेच किया है किन्तु बुद्धिग्राह्य न होने के कारण विद्वत्-समाज में इसे किसी मान्यता की प्राप्ति नहीं हो सकी है ।

उत्पत्ति स्थान—पंचतन्त्र की मूल प्रति के उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता । इस सम्बन्ध में हर्टल का यह विचार है कि इसकी रचना काश्मीर में हुई किन्तु वर्णनों के आधार पर विद्वानों ने इसे दक्षिण में रचा गया माना है ।

काल—पंचतन्त्र की रचना का ठीक समय बतलाना कठिन है क्योंकि यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं होता । बादशाह खुसरु अनुशेरवा (५३१-५७६ ई०) की आज्ञा से पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी भाषा में किया गया था । इससे सिद्ध होता है कि पंचतन्त्र छठी शताब्दी ई० पू० विद्यमान था और इतना प्रसिद्ध हो गया था कि एक विदेशी राजा, अपने देश में उसका अनुवाद करावे, क्योंकि इतनी प्रसिद्धि के लिए लगभग १०० वर्ष अवश्य चाहिए ।

पंचतन्त्र का मूलरूप—पंचतन्त्र अपने मौलिक रूप में प्राप्य नहीं है किन्तु उसके विभिन्न संस्करण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर मूल ग्रन्थ की कल्पना सहज ही में की जा सकती है । ये संस्करण इस प्रकार हैं—

१. पंचतन्त्र के अप्राप्य पहलवी अनुवाद से अनूदित आसुरी और अरबी संस्करण ।

२. पंचतन्त्र के उत्तर-पश्चिमी भारतीय संस्करण का उपयोग गुणाढ्य की वृहत्कथा में हुआ था, जो अब सोमदेव के कथासरित्सागर में प्रस्तुत है । इसमें पंचतन्त्र के पाँचों भाग सुरक्षित हैं । पर बीच-बीच में विषयान्तर की बहुलता दीख पड़ती है ।

३. तन्त्राख्यायिका (३०० ई०) में मूलग्रन्थ का बहुत कुछ रूप सुरक्षित है और इसके दो काश्मीरी संस्करण भी प्राप्त हैं।

४. पंचतंत्र के जिस संस्करण का भारत में सर्वाधिक प्रचलन है पाश्चात्य विद्वानों ने उसे सरल संस्करण के नाम से अभिहित किया है।

५. पंचतंत्र का एक दक्षिण भारतीय संस्करण भी मिलता है जो भारवि (६०० ई०) के बाद का है। इसमें कथाएं संक्षिप्त रूप में दी गई हैं।

६. पूर्णभद्र जैन के संस्करण (११६६ ई०) में २१ नई कथाओं का समावेश है तथा यत्र तत्र गुजराती और प्राकृत के दर्शन भी होते हैं।

७. १६६० ई० में मेघविजय ने पंचतंत्र के उपलब्ध संस्करणों के आधार पर पंचाख्यानोद्धार की रचना की।

८. एक नेपाली संस्करण में पंचतंत्र के केवल पद्य ही दिए गए हैं।

उपर्युक्त सभी संस्करणों के आधार पर प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान एडगर्टन ने जिस पंचतंत्र का प्रकाशन किया है वही आज सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है।

पंचतंत्र के इस समय पांच भाग हैं—मित्र-भेद, मित्र-लाभ, संधि-विग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षा कारित्व या अपरीक्षित कारिकम्। प्रत्येक भाग में मुख्य कथा के अन्तर्गत अनेक गौण कथाओं का समावेश है। इन कथाओं में पाण्डित्य और हास्यरस दोनों का ही समावेश है तथा अधिकांश के पात्र पशु हैं। ये कथाएं केवल कथामात्र नहीं हैं अपितु किसी न किसी धार्मिक या राजनीतिक बात का सुन्दर दृष्टांत भी देती हैं।

पंचतंत्र के प्रणेता ने सर्वत्र भावानुरूप सरल भाषा-शैली का प्रयोग किया है तथा वाक्य-विन्यास में किसी प्रकार की दुरूहता नहीं है। इस ग्रन्थ में समास बहुत कम हैं और यदि हैं तो बहुत छोटे-छोटे।

हितोपदेश—नारायण पण्डित नामक किसी लेखक के द्वारा रचे गए इस ग्रंथ का रचना-काल १३७३ ई० अथवा उसके पूर्व है। इस प्रकार के अनुमान

का आधार यह है कि इसकी एक पाण्डुलिपि १३७३ ई० की मिली है।

हितोपदेश की रचना पंचतंत्र के आधार पर की गई है। इसमें १७ नवीन नीति-कथाएं भी मिलती हैं जो पंचतन्त्र में नहीं मिलतीं। समस्त कथाओं को चार भागों में बांट दिया गया है—मित्र-लाभ, सुहृद-भेद, विग्रह और संधि। पुस्तक में सर्वत्र रोचक शैली और सरल भाषा का प्रयोग किया गया है।

लोककथा—संस्कृत के कथा-साहित्य का दूसरा भाग लोककथा के नाम से अभिहित किया जाता है। ये कथाएं नीति-कथाओं के समान उपदेश प्रधान न होकर मनोरंजन प्रधान होती हैं। साथ ही, इन कथाओं के पात्र पशु न होकर प्रायः मनुष्य ही हुआ करते है। इसके प्रतिनिधि एवं लोकप्रिय ग्रंथों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

बृहत्कथा—डा० व्यूलर के मतानुसार गुणाढ्यकृत इस रचना का रचना-काल प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी है, किंतु अद्यतन शोधों के आधार पर इसका रचनाकाल ७८ ई० माना जाने लगा है।

इस ग्रथ का प्रणयन पैशाची भाषा में हुआ था किंतु आज इसका मूल रूप प्राप्त न होकर संस्कृत अनुवाद ही प्राप्त होता है। आकार में यह ग्रंथ महा-भारत से सातगुना बड़ा बताया जाता है और कहा जाता है कि इसके मूल में ७ लाख श्लोक थे किंतु अब केवल एक लाख श्लोक ही प्राप्त हैं और जैसा कहा जा चुका है वे भी अपने मूल रूप में नहीं। इसके तीन संस्कृत अनुवादों में बुधस्वामी का 'बृहत् श्लोक समुच्चय' सर्वाधिक प्राचीन है। बुधस्वामी नें नैपाल में रह कर अष्टम या नवम शतक में इसका अनुवाद किया। अन्य दोनों अनुवाद काश्मीर में ही प्रायः एक ही शताब्दी में लिखे गए।

बृहत् कथा मञ्जरी—इस ग्रंथ के प्रणेता क्षेमेंद्र काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि थे। जैसे कि नाम से स्पष्ट है यह बृहत् कथा का संक्षिप्त रूप ही है। इसमें ७,५०० श्लोक हैं। रचना-शैली की दृष्टि से इस ग्रंथ में स्पष्टता कम किंतु साहित्यिकता पर्याप्त मात्रा में है। इस ग्रंथ का रचनाकाल १०३७ ई० के आसपास माना जाता है।

कथासरित्सागर—सोमदेव विरचित यह ग्रन्थ १८ खण्डों में विभक्त है जिन्हें लम्बक के नाम से अभिहित किया गया है। इनके उपविभाग १२४ तरंगें हैं और इनमें २२ सहस्र श्लोक हैं। इसमें मूर्खों, धूर्तों तथा शठों की कथाएँ हैं जो अत्यन्त रोचक तथा चरित्र-निर्माण के लिए उपादेय हैं। सर्वत्र सीधीसादी शैली का प्रयोग किया गया है तथा भाव-प्रकाशन में कहीं भी शिथिलता नहीं है।

सोमदेव काश्मीर नरेश अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे फलत: इनका समय भी १०३७ ई० के आसपास ही माना जाता है।

वेतालपंचविंशतिका—यह २५ कथाओं का एक संग्रह है। इसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार एक वैताल राजा विक्रमादित्य को जो वैताल को पकड़ना चाहता है २५ कथाएँ सुनाता है। ये कथाएँ अत्यन्त प्राचीन हैं तथा बृहत्कथा-मंजरी और कथा-सरित्सागर में ही सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त १२वी शताब्दी में जम्भालादत्त ने गद्य में तथा शिवदास ने गद्य और पद्य रूप में भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ पर्याप्त जन-प्रिय रहा है। इसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि इसका अनुवाद बहुत सी भारतीय भाषाओं में प्राप्त होता है।

इस ग्रंथ में सर्वत्र गद्य का ही प्रयोग हुआ है, कुछ स्थानों पर पद्य भी प्राप्त होता है। ग्रंथ की भाषा सुगम एवं लावण्यपूर्ण तथा शैली सरल, स्वच्छ तथा आकर्षक है।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका—विक्रमादित्य से सम्बद्ध कथाग्रन्थों में सिंहासन-द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंश पुत्तलिका अथवा विक्रमचरित का भी उल्लेखनीय स्थान है। इसमें ३२ कहानियाँ है जिन्हें विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी हुई ३२ पुतलियाँ धारा के राजा भोज को सुनाती हैं। इस ग्रंथ के तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) केवल गद्यमय (२) केवल पद्यमय (३) गद्य-पद्यमय। किन्तु किसी भी संस्करण में लेखक और समय का निर्देश नहीं है फलत: इसका लेखक और समय अज्ञात हैं। किन्तु इतना होने पर भी इस रचना के

रचनाकाल का अनुमान किया जा सकता है। प्रत्येक कहानी में धारा के राजा भोज का उल्लेख है अतः इसकी रचना भोज के बाद हुई होगी। भोज का समय १०१८–१०६३ ई० है अतः यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना १०६३ के बाद हुई होगी।

शुक सप्तति—यह ७० रोचक कथाओं का संग्रह है। इसके कर्त्ता तथा काल के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसमें एक तोता अपनी स्वामिनी को ७० रात तक एक-एक कहानी कर के ७० कहानियाँ सुनाता है। उसकी स्वामिनी अपने पति के विदेश-गमन पर काम-पीड़ित हो दुराचारिणी होना चाहती थी किन्तु वह (तोता) प्रति रात्रि एक कहानी सुनाता रहा और इस प्रकार उसने अपनी स्वामिनी को दुराचारिणी होने से बचाया।

इसके तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं तथा १४वीं शताब्दी ई० का फारसी अनुवाद भी प्राप्य है। इतना ही नहीं जैन कवि हेमचन्द्र जिनका समय १०८८–११७२ ई० है को भी इस ग्रन्थ का पता था। फलतः कहा जा सकता है कि इसका रचना काल १००० ई० पू० से पहले का है।

उपरिलिखित सभी लोककथाग्रंथ ब्राह्मणों द्वारा रचे गए हैं। किन्तु इन ब्राह्मण लेखकों के अतिरिक्त बौद्धों तथा जैनियों द्वारा प्रणीत लौकिक कथा-ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। इन दोनों ही प्रकार के लेखकों का उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना है। जैनियों द्वारा लिखी गई रचनाओं में यदि सिद्धर्षि विरचित उपमितिभव प्रपंच कथा तथा हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं तो बौद्ध रचनाओं में अवदान शतक, दिव्यावदान तथा जातक माला नामक ग्रन्थों का नाम चिरस्मरणीय है।



: १० :

चम्पूकाव्य

प्रश्न ३४—चम्पू-काव्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए उसके विकासक्रम पर एक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

चम्पूकाव्य से अभिप्राय ऐसे काव्य से होता है जिसमें गद्य-पद्य का संयुक्त प्रयोग इस प्रकार से हो जैसे संगीत में वाद्य का सम्बन्ध गीत से होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि गद्य और पद्य मिश्रित रचना को चम्पू कहते हैं। इस प्रकार की रचना में गद्य और पद्य को प्रायः समान स्थान दिया जाता है। गद्य का प्रयोग विवरण और वर्णन के लिए किया जाता है तथा पद्य का प्रयोग प्रभावोत्पादक और निश्चित बात कहने के लिए। सामान्यतः गद्य में जो तथ्य विस्तार के साथ वर्णित होता है पद्य में वही संक्षिप्त आकार में परिवर्तित हो जाता है।

चम्पूकाव्य के नाम से अभिहित होने वाले प्रथम ग्रन्थ के दर्शन दसवीं शताब्दी से पूर्व नहीं होते यद्यपि दण्डी (६०० ई०) विरचित काव्यादर्श में चम्पू का लक्षण देख कर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दण्डी के पूर्व संस्कृत में चम्पूकाव्य की रचना हो चुकी थी।

उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में प्राचीनतम चम्पूकाव्य त्रिविक्रम भट्ट विरचित नल-चम्पू है जिसका दूसरा नाम दमयन्ती कथा है। इनका दूसरा चम्पू ग्रंथ मदालसा चम्पू है किन्तु जो प्रसिद्धि नल-चम्पू को प्राप्त है वह किसी अन्य को नहीं। इसमें सात उच्छवास हैं और नल तथा दमयन्ती की कथा वर्णित है। प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम श्लोक में हरचरणसरोज शब्द है। इसमें नल के मन्त्री सालंकायन ने नल को जो उपदेश दिया है वह कादम्बरी में चन्द्रापीड़ को दिए गए शुकनास के उपदेश के आधार पर है। इस पुस्तक की शैली

क्लिष्ट है और लेखक ने न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों से भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

नल-चम्पू के प्रारम्भिक श्लोकों में बाल्मीकि, व्यास, बाण और गुणाढ्य का उल्लेख होने के कारण तथा ६१५ ई० के एक दान-पत्र के आधार पर इनका समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।

चम्पूकाव्य परम्परा के दूसरे प्रमुख प्रणेता जैन कवि सोमदेव सूरि हैं। इन्होंने ९५९ ई० में 'यशस्तिलक चम्पू' नामक ग्रन्थ की रचना की। आठ आश्वासों में विभाजित इस ग्रंथ में अवन्तिनरेश यशोधर की कथा वर्णित है। कादम्बरी को आदर्श बना कर, पुनर्जन्म की पृष्ठि-भूमि पर इस आवागमन के चक्र को समाप्त करने के लिए जैनधर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन ही इस ग्रंथ में किया गया है।

इस ग्रंथ का महत्व रोचक कथा, सुरुचिपूर्ण शैली, सरस तथा मनोहर पद्यों अथवा धार्मिक दृष्टि से ही न होकर ऐतिहासिक दृष्टि से भी है। पंडित चन्द्रशेखर पाण्डेय के मतानुसार इस कृति में अन्य कवियों के नामोल्लेख के साथ कुछ ऐसी काव्य-कृतियों के नाम भी आए हैं जिनका आज कोई पता नहीं।

चम्पूकाव्य परम्परा में तीसरा उल्लेखनीय ग्रंथ जैन कवि हरिचन्द विरचित 'जीवधर-चम्पू' है। इस ग्रन्थ के प्रणेता का रचना-काल क्या था इस संबन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन गुणभद्र विरचित उत्तर पुराण पर आधृत होने के कारण यह अनुमान किया जाता है कि प्रस्तुत ग्रंथ का लेखक गुणभद्र के बाद हुआ होगा। गुणभद्र का रचनाकाल ८५० ई० माना जाता है। अतः कहा जा सकता है कि जैन कवि हरिचन्द्र ९०० ई० के आस-पास हुए होंगे। इनके सम्बन्ध में दूसरा विवादास्पद प्रश्न है कि धर्म-शर्माभ्युदय के प्रणेता हरिचन्द्र और इनमें पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? वस्तुतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि दोनों व्यक्ति (जीवधर चम्पू के प्रणेता हरिचन्द्र एवं धर्मशर्माभ्युदय के प्रणेता हरिचन्द्र) एक ही हैं अथवा कोई अन्य।

जीवधर चम्पू का साहित्यिक मूल्य उतना नहीं है जितना ऐतिहासिक किन्तु इतना होने पर भी हम कह सकते हैं कि लेखक माघ और वाक्पति के अनुकरण में पूर्णतः सफल रहा है।

इस परम्परा में हरिचन्द्र के उपरान्त भोज विरचित रामायण चम्पू का नाम भी लिया जाता है। इसमें रामायण की कथा चम्पू शैली में वर्णित है। वैदर्भी रीति में लिखा गया यह ग्रंथ केवल एक ही व्यक्ति की रचना नहीं है अपितु इस ग्रंथ में लक्ष्मण भट्ट और वेंकटराज नामक अन्य विद्वानों का भी हाथ है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि धारा नरेश भोज ने इस ग्रन्थ का श्रीगणेश कर कथा को किष्किधा काण्ड तक पहुँचाया तो लक्ष्मण भट्ट ने युद्ध काण्ड और वेंकटराज ने उत्तर काण्ड नामक प्रकरणों को जोड़ कर पूर्ण किया।

रामायण चम्पू के समान ही एक ग्रंथ 'भारत चम्पू' की रचना भी धारा नरेश भोज के समय में ही की गई। अनन्त कवि विरचित इस ग्रथ में महाभारत की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है।

रामायण चम्पू के उपरान्त जिस चम्पू ने साहित्य-जगत में अत्यन्त ख्याति पाई वह सोड्ढल विरचित उदय सुन्दरी कथा चम्पू है। सोड्ढल गुज्राती कायस्थ थे और कोंकण के राजा मुम्मुणिराज के आश्रय में रहा करते थे। मुम्मुणिराज का एक शिलालेख १०६० ई० का उपलब्ध होता है अतः कहा जा सकता है कि सोड्ढल १०६० ई० में विद्यमान थे।

'उदय सुन्दरी कथा' नामक ग्रंथ में प्रतिष्ठान नगर के राजा मलयवाहन और नागराज शिखण्ड तिलक की पुत्री उदय सुन्दरी की विवाह-गाथा वर्णित है। कवि पर बाण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है क्योंकि उसने बाण की भाँति अपना वृत्तान्त दिया है तथा पूर्ववर्ती कवियों के सम्बन्ध में कई प्रशंसात्मक श्लोक भी लिखे हैं। काव्य-कला की दृष्टि से कवि को लालित्यपूर्ण भाषा में नूतन उपमान प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है।

सन् १९२४ ई० में पंजाब के स्वर्गीय डा० लक्ष्मणस्वरूप ने रानी तिरुमलाम्बा विरचित 'वरदाम्बिका-परिणय' चम्पू नामक अमूल्य ग्रंथ की पाण्डुलिपि साहित्य जिज्ञासुओं के सम्मुख प्रस्तुत की। तिरुमलाम्बा राजा अच्युतराय की विदुषी पत्नी के रूप में प्रख्यात हैं और उनका राज्याभिषेक १५२९ ई० में होना माना जाता है। अतः विद्वानों का विचार है कि इस ग्रंथ का प्रणयन १५२९-४० ई० के आस-पास हुआ होगा। इस ग्रंथ में अच्युतराय और वरदाम्बिका के प्रेम और परिणय का चम्पू शैली में वर्णन है। दीर्घ समासों और जटिल वाक्यों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि रानी तिरुमलाम्बा का संस्कृत भाषा पर विलक्षण अधिकार था। इस ग्रंथ से उनकी उर्वर कल्पना-शक्ति का परिचय भी प्राप्त होता है।

रानी तिरुमलाम्बा के इस ग्रंथ के बाद भी अनेक चम्पू ग्रंथों का प्रणयन हुआ यथा सोलहवीं शताब्दी में कर्णपूर तथा जीव गोस्वामी ने भगवान् कृष्ण की ललित लीलाओं को आधार मानकर आनन्द विलास चम्पू तथा गोपाल चम्पू नामक ग्रंथों की रचना की। इसी प्रकार से सत्रहवीं शताब्दी में नारायण ने 'स्वाहासुधाकर चम्पू' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। इसमें पुराणों के अलंकारिक आख्यान अग्नि-पत्नी स्वाहा और चन्द्रमा के प्रणय की कथा का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार से १६५० ई० में वेंकटाध्वरि ने विश्वगुणादर्श चम्पू लिखा। इसमें विश्वावसु और कृशानु नामक दो गन्धर्व विमानों पर आरूढ़ होकर विभिन्न देशों के गुण-दोषों का वर्णन करते हैं।



: ११ :

भारतीय दर्शन

प्रश्न ३५—'दर्शन' का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए 'भारतीय दर्शन' नामक विषय पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए ।

सृष्टि क्या है तथा उसकी रचना किस प्रकार हुई ? मनुष्य क्या वस्तु है ? जीवन समाप्त होने पर प्राणी मात्र का कभी क्या और अस्तित्व भी है ? ये साधारण सी समस्याएँ हैं और इनके विषय में कुछ जानने की लालसा प्रत्येक प्राणी को होती है । इन्हीं समस्याओं की पूर्ति के लिए दर्शन शास्त्र की उत्पत्ति हुई । भारत भूमि को ही यह गौरव प्राप्त है कि विश्व को दर्शनों का सन्देशा सुनाने वाले जगद्गुरु भारत के ऋषि ही थे । स्वीडन कांट का कथन है—"हिन्दू रोम और ग्रीक के दार्शनिकों से बरसों आगे बढ़े थे ।" हिन्दुओं के सम्बन्ध में विद्वान कालब्रुक स्वीकार करते है कि वे शिक्षक थे, शिष्य नहीं ।

डा० मैकडानल ने ग्रीस में प्रचलित कथाओं के अनुसार अन्वेषण किया है कि थ्लेस, एपीगे, किलस, डिमाक्रीट्स एवं अन्य दूसरे विद्वानों ने दर्शन शास्त्र का अध्ययन करने के लिए पूर्व की यात्रा की थी । डाक्टर एन० फील्ड भी बताते हैं कि—"पैथागोरस आदि महान् पुरुषों ने इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त भारतवर्ष की यात्रा की थी । ये ही पीछे ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए है ।···सुकरात और प्लेटो की आत्मा के अमरत्व का सिद्धान्त प्राच्य दर्शन का ही सिद्धान्त है ।" वस्तुतः प्राचीन आर्यों में अद्भुत शक्ति थी । जिस क्षेत्र में वह अग्रसर होते थे उसी में उन्हें विजयश्री प्रसन्नतापूर्वक आलिंगन करती थी और वह समस्त संसार का निश्चित क्षेत्र निश्चित हो जाता था । जिस क्षेत्र में और जिस ओर उन्होंने विश्व को झुकाना चाहा

वह उसी ओर झुकता और सहर्ष उनका अनुकरण करता। इसीलिए आज समस्त विश्व भारत का ऋणी है।

जर्मन दार्शनिक श्लेगल इसी बात का समर्थन इन शब्दों में करते हैं— **"योरुप का सर्वोच्च दर्शन भारतीय दर्शन के समान ऐसा ही है जैसा मध्याह्न मार्त्तण्ड के सामने टिमटिमाता दीपक।"** अब इस बात के सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि दर्शन का स्रोत भारत की पवित्र भूमि ही है और वही इसके यश तथा गौरव की भागी है।

भारतीय दर्शन के मूलतः दो भेद हैं—१. आस्तिक दर्शन १. नास्तिक दर्शन। आस्तिक वह है जो वेद में श्रद्धा रखे तथा नास्तिक वह है जो वेद-निन्दक हो। कहने का अभिप्राय यह है कि वेदों को प्रमाण न मानने वाले दर्शन नास्तिक और वेदों में श्रद्धा भाव रखने वाले दर्शन आस्तिक कहलाते हैं।

नास्तिक दर्शन—नास्तिक दर्शन संख्या में तीन हैं—(१) चार्वाक, (२) बौद्ध, (३) जैन। इनका विवरण इस प्रकार है—

चार्वाक दर्शन—यह दर्शन भौतिकवादी है तथा इसके सिद्धान्त इतने ही पुराने है जितना कि मानव जगत्। इस दर्शन के अनुसार जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है उसका कोई अस्तित्व नहीं संसार में न कोई परमात्मा है और न स्वर्ग आदि अन्य लोक। इतना ही नहीं इस दर्शन की तो मान्यता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् इस जीवन में सुख से जीए, ऋण लेकर भी घी पीए क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने के बाद ऋण चुकाने के लिए भला किसको आना पड़ता है।

बौद्ध दर्शन—कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम ने बौद्ध दर्शन की स्थापना की थी। इस दर्शन के मूलतः चार सम्प्रदाय हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार, (४) माध्यमिक। सत्ता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार रखने के कारण ही इन चार सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। वैभाषिक

लोगों के अनुसार जगत के समस्त पदार्थ चाहे वे अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखते हों, चाहे बाह्य जगत से सत्य हैं और इस तथ्य का अवबोध प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। सौत्रान्तिक मतानुयायियों के अनुसार इस जगत के समस्त बाह्य पदार्थ सत्य हैं किन्तु वे इस तर्क से सहमत नहीं हैं कि इस तथ्य का अवबोध प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। इनके मतानुसार तो यह अवबोध अनुमान के द्वारा ही हुआ करता है। योगाचार चित्त को ही एकमात्र सत्य मानता है तथा माध्यमिक मतानुयायी इस जगत के समस्त पदार्थों को शून्यरूप मानते हैं। अन्ततः बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को निम्न श्लोक में आबद्ध किया जा सकता है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचार-मते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बद्धेति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

जैन दर्शन—यह दर्शन अहिंसा को ही परम धर्म मानता है, पुनर्जन्मवाद और कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करता है। यह दर्शन न तो वेदों को ज्ञान का आदि स्रोत मानता है और न ही ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह दर्शन पदार्थों की संख्या छः मानता है—जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म। इसकी दार्शनिक दृष्टि अनेकान्तवादी है अर्थात् सत्य को जानने के लिए अनेक दृष्टियाँ हैं तथा उन सब से देखने पर ही सत्य का वास्तविक स्वरूप हमें ज्ञात हो सकता है।

आस्तिक दर्शन—आस्तिक दर्शन से अभिप्राय वैदिक दर्शन से है। ये संख्या में छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा। सख्या में छः होने के कारण इन्हें षड्-दर्शन के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसका विवरण इस प्रकार है—

न्याय—इस दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं। इस दर्शन में बुद्धि का सर्वोच्च स्थान है। बुद्धि के सहारे ही और इसी के बलबूते पर मनुष्य प्रत्येक

ज्ञात का ज्ञान प्राप्त करता है। इस दर्शन के अनुसार सोलह तत्व हैं जिनका ज्ञान होने से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

न्याय दर्शन में आत्मा का सुन्दर विवेचन है तथा इसमें आत्मा को शरीर मन तथा बुद्धि से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध किया गया है। सम्भवतः इसी कारण से विद्वानों में इस दर्शन को बहुत आदर प्राप्त है। भारतीय विद्वानों और मनीषियों ने यदि अपना यह प्रेम विभिन्न टीकाएँ लिखकर प्रस्तुत किया है तो पाश्चात्य साहित्य मनीषी श्रीमती मिनिङ्ग का विचार है—"**इससे गौतम की मानसिक शक्ति और गम्भीरतम प्रश्नों को वर्णन करने की क्रियात्मक शैली का परिचय प्राप्त होता है जो कि मानव मस्तिष्क को प्रभावित करती है।**"०

वैशेषिक—इस दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद हैं और इसका मुख्य अभिप्राय जगत के पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करना है। इस दर्शन के अनुसार पदार्थ सात होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव; द्रव्य नौ होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन; कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंजन, प्रसारण तथा गमन; गुण चौबीस होते हैं जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, बुद्धि आदि मुख्य हैं।

यह दर्शन अपने परमाणुवाद के लिए सर्व प्रसिद्ध है। परमाणु की परिभाषा देते हुए कहा गया है—

जालान्तर गतेभानो सूक्ष्मं यद्दृश्यते रज।
तस्य षष्ठितमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

अर्थात् सूर्य की किरणें जब झरोखे से होकर मकान में आती हैं तो प्रकाश में उड़ते हुए जो छोटे-छोटे धूलि-कण दिखाई देते हैं उनमें से एक का साठवाँ भाग परमाणु कहा जाता है। यह परमाणु नित्य और अविनाशी हैं। इन्हीं की योजना से पदार्थ बनते हैं और सृष्टि की योजना का निर्माण होता है। जब जीवों के कर्मफल भोगने का समय आता है तब ईश्वर की उस भोग के

अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। यही संक्षेप में इस दर्शन का परमाणुवाद है।

वैशेषिक दर्शन पर अनेक भाष्य प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें से प्रशस्तवाद उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य, शिवादित्य मिश्र और विश्वनाथ आदि के ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं। आरम्भ में न्याय और वैशेषिक दर्शनों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानी जाती थी किन्तु दसवीं शताब्दी के उपरान्त दोनों दर्शन एक दूसरे में मिल गए हैं जिनका मूल कारण यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों दर्शनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

सांख्य—इस दर्शन में मूल पदार्थ दो माने गए हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड़ है तथा पुरुष चेतन। प्रकृति सत्त्व, रजस और तमस इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का परिणाम है। जब इन गुणों में वैषम्य होता है तब भिन्न-भिन्न पदार्थ उद्भूत होते हैं। प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार तथा अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इन तन्मात्राओं से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत तथा एक मन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रकृति या उससे बने हुए पदार्थों की संख्या २४ हो जाती है। पुरुष को मिला कर यह संख्या २५ हो जाती है। इस प्रकार तत्वों की संख्या करने के कारण इस दर्शन का नाम सांख्य हो गया।

यह दर्शन मूलतः सत्कार्यवादी है अर्थात् इस दर्शन का मत है कि कारण में पहले से ही कार्य विद्यमान रहता है। कार्य कोई नवीन पदार्थ नहीं है अपितु उसी कारण का एक व्यक्त रूप है। पुरुष और प्रकृति का विवेक न होने से ही संसार है और दोनों के विवेक हो जाने पर मोक्ष।

अन्य दर्शनों की भाँति इस दर्शन पर भी अनेक टीकाएँ एवं भाष्य प्रस्तुत किए गए हैं। पंचशिख विरचित 'षष्ठितन्त्र', ईश्वर कृष्ण विरचित 'सांख्य-कारिका', आचार्य माठर विरजित 'माठरवृत्ति', वाचस्पति विरचित 'तत्त्व-कौमुदी', विज्ञानभिक्षु विरचित 'सांख्य-प्रवचन भाष्य' तथा गौड़पाद का भाष्य इनमें अति प्रमुख हैं।

योग—योग वह दर्शन है, जिसमें चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में लीन होने का विधान बतलाया गया है। चित्त की एकाग्रता के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि साधन हैं। योग की बड़ी ही अपार महिमा है। प्राणीमात्र की चित्तवृत्तियों का निषेध कर त्रयताप से मुक्त होकर उपासना में लीन होने का इससे उत्तम साधन आज तक संसार में प्राप्त नहीं हो सका। केवल यही वह मार्ग है जो मनुष्य को अद्भुत कार्य करने में समर्थ करता है।

सांख्य दर्शन के समान पतंजलि विरचित इस दर्शन में भी आत्मा और जगत के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया है लेकिन फिर भी इन दोनों प्रकार के दर्शनों में मौलिक भेद है। सांख्य दर्शन में जहाँ ईश्वर की सत्ता नहीं मानी जाती वहाँ इस दर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशाकदी तथा विज्ञानभिक्षु विरचित 'योग-वार्तिक' इस ग्रन्थ पर प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

पूर्व मीमांसा—इस दर्शन के सूत्रों की रचना महर्षि जमिनी ने की है और इसका उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड में उपलब्ध होने वाले विरोधों के परिहार तथा वैदिक वाक्यों के अर्थ का निरूपण करना है। यह दर्शन कर्म पर विशेष बल देता है अतः यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इस दर्शन के मतानुसार वेद अपौरुषेय तथा नित्य हैं।

मीमांसा दर्शन पर शबरमुनि का भाष्य ख्यातव्य है। इस भाष्य पर भी कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट नामक विद्वानों ने दो प्रकार की व्याख्याएँ लिखी हैं।

उत्तर मीमांसा—इस दर्शन के प्रेरक महर्षि व्यास हैं। इसका विषय आत्मा, ब्रह्म और प्रकृति का विवेचन है जिससे जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है। इसका मत है—

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ही ब्रह्म है, उससे भिन्न नहीं। जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार करने के कारण यह मत अद्वैत

के नाम से प्रख्यात है। यह मत प्राचीन काल से अब तक निरन्तर लोकप्रिय रहा है। अनेक विद्वानों ने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा इस मत के साहित्य को पुष्ट किया है। मण्डन मिश्र, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र और रामानुज आदि जिनमें से प्रमुख हैं। शङ्कराचार्य का भाष्य इस ग्रंथ पर प्रामाणिक भाष्य है। वस्तुतः शङ्कर ही अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक हैं।

भारतीय दर्शन की हिन्दू समाज में इतनी चर्चा और मान्यता रही कि दर्शन धर्म का भाग बनकर भी समस्त जनता के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन का अंग हो गया। दर्शनों के सिद्धान्तों का विकास विद्वानों ने किया और वह समस्त जनता के कानों में गूंज उठे। प्रत्येक पुरुष आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म एवं मोक्ष पर विचार करते थे और उनमें विश्वास रखते थे।

भारतीय दर्शन का प्रभाव केवल देश में ही सीमित न रहा अपितु उसका प्रचार अन्य देशों में भी हुआ। बौद्ध धर्म के साथ-साथ वह लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत और मंगोलिया तक पहुँचा। मध्यकाल में उसने इस्लाम पर प्रभाव डाला और सूफी धर्म की उत्पत्ति में सहायक बना। १८वीं सदी से भारतीय दर्शन का अध्ययन यूरोप में आरम्भ हुआ और शौपन हायर, डोयसन तथा अनेक विद्वानों पर वह अपनी छाप लगाने में समर्थ सिद्ध हुआ।



परिशिष्ट १

प्रश्न ३६—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—

(क) नान्दी (ख) सूत्रधार (ग) नेपथ्य (घ) प्रस्तावना (ङ) विष्क-म्भक (च) प्रवेशक (छ) कंचुकी (ज) विदूषक (झ) स्वगत (ञ) अपवारित (ट) आकाश भाषित (ठ) प्रकाश (ड) जनान्तिकम् (ढ) भरत वाक्य (ण) नाटक (त) प्रकरण (थ) भाण (द) प्रहसन (ध) ईहामृग।

नान्दी—रूपकों के आदि में जो श्लोक लिखा जाता है तथा जिसमें किसी इष्टदेव से दर्शकों की रक्षा या उन पर कृपा करने की प्रार्थना की जाती है उसी को नान्दी कहते हैं। इसमें राजा आदि की स्तुति भी होती है। यह आठ अथवा बारह पदों से युक्त होता है और इसमें शंख, मंगल, चन्द्र, कमल, चक्रवाक और कोकावेली का वर्णन होता है।

सूत्रधार—नाटक के सम्पूर्ण कार्यों को चलाने वाले व्यक्ति को सूत्रधार कहते हैं। जहाँ पात्रों की वेशभूषा तथा अन्य बहुत से कार्य इसी पर निर्भर होते हैं वहाँ रंग-मंच के देवता की पूजा भी यही करता है।

नेपथ्य—जहाँ पर नट लोग वेष रचना करते हैं और मंच पर आने तक प्रतीक्षा करते हैं उस स्थल को नेपथ्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह स्थान परदे के पीछे होता है और दर्शक इसे देख नहीं सकते।

प्रस्तावना—नान्दी के उपरान्त जो नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक नाटक के खेलने से सम्बन्ध रखने वाली बातें सूत्रधार से करते हैं और नाटक में होने वाली घटना तथा पात्र-प्रवेश की सूचना संकेत से मात्र देते हैं उसे प्रस्तावना के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

विष्कम्भक—यह अंक के प्रारम्भ में होता है। इसमें मध्यम तथा निम्न-श्रेणी के पात्र वार्तालाप द्वारा बीती हुई तथा आने वाली घटनाओं का निर्देश

करते हुए कथा को एक सूत्र में बाँधते हैं। यह (विष्कम्भक) दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मिश्र। शुद्ध में मध्यम श्रेणी के पात्र भाग लेते हैं और प्रायः संस्कृत बोलते हैं तथा मिश्र में निम्न श्रेणी के पात्र भाग लेते हैं और मिली-जुली भाषा अर्थात् संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग करते हैं।

प्रवेश्क—जहाँ दो अंकों की भूत और भविष्यत् काल की घटनाओं को दो नीच पात्रों के द्वारा एक सूत्र में बाँधा जाता है वहाँ प्रवेश्क होता है। इसकी भाषा प्राकृत होती है तथा अन्य सभी बातें विष्कंभक के समान होती हैं।

कंचुकी—अन्तःपुर के बूढ़े सेवक को कंचुकी के नाम से सुशोभित किया जाता है। यह शुद्ध चरित्र तथा कामकाज में निपुण होता है। कंचुक लम्बे चोगे को कहते हैं और चोगा धारण करने से ही इसका ऐसा नाम पड़ा है।

विदूषक—यह नाटक के नायक का धर्म-सचिव होता है। ब्राह्मण होते हुए भी यह प्राकृत भाषी है। विचित्र वेश, अनोखी चेष्टाओं और अंगविकारों के माध्यम से यह हंसी उत्पन्न कराता है। यह प्रायः भोजनप्रिय होता है।

स्वगत—जब कोई पात्र अपने आप से बात करता है और दूसरों को सुनाना नहीं चाहता तब इसका प्रयोग किया जाता है। आजकल इसे अस्वाभाविक समझा जाता है। इतने दूर बैठे हुए दर्शकों का सुन लेना और पास वाले व्यक्ति का न सुनना असम्भव प्रतीत होता है।

अपवारित—जब एक पात्र इस प्रकार से बात करे कि केवल वही पात्र सुन सके जिसे वह अपनी बात सुनाना चाहता है तब उसे अपवारित या अपवार्य कहते हैं।

आकाशभाषित—जब एक पात्र स्वयं प्रश्न करके उसका उत्तर 'क्या कहते हो' इन शब्दों से आरम्भ करके दे, मानो वह आकाश से पूछ रहा हो, तब उसे 'आकाश-भाषित' कहते हैं।

प्रकाश—स्वगत तथा अपवारित के बाद जब सब को सुनाने के लिए बात की ज ती है, तब उसको प्रकाश कहते हैं।

भरत वाक्य—नाटक की समाप्ति पर दर्शकों के कल्याण के लिए जो कामना की जाती है अर्थात् उन्हें जो आशीर्वाद दिया जाता है, उसे 'भरत वाक्य' के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

नाटक—इसमें अधिक से अधिक दस और कम से कम पाँच अंक होते हैं। इसका कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा लोक-प्रचलित होता है। इसका नायक कोई प्रसिद्ध, धारोदात्त, प्रतापी राजर्षि होता है। शृंगार और वीर में से कोई एक अंगी रस के रूप में ग्रहण किया जाता है। शेष रस अंगभूत होते हैं। इसमें पाँच सन्धियाँ होती हैं जिनसे प्रधान कथा अन्य कथांशों से परितुष्ट की जाती है।

प्रकरण—इसमें कवि को कल्पित तथा लौकिक कथानक चुनने की सुविधा रहती है। नायक का भी प्रख्यात होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार से अंक संख्या के सम्बन्ध में भी कोई वन्धन आरोपित नहीं किया गया है किन्तु प्रायः इस कार की रचना में १० अङ्क पाए जाते हैं।

भाण—इसमें किसी कल्पित धूर्त चरित का आख्यान रहता है तथा अंक केवल एक ही होता है।

प्रहसन—इसमें हास्यरस प्रधान होता है। अंक भी केवल एक ही होता है।

ईहामृग—इसमें दिव्य और लौकिक दोनों प्रकार का मिश्रित कथानक होता है। अंक संख्या प्रायः चार होती है।

प्रश्न ३७—मैक्समूलर द्वारा स्थापित काव्य के पुनर्जागरण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक विश्लेषणात्मक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए !

संस्कृत साहित्य के इतिहास में मैक्समूलर का काव्य के पुनर्जागरण का सिद्धान्त पूर्णतः खण्डित और अमान्य होने पर भी ऐतिहासिक महत्व का अधिकारी है। विक्रम की प्रारम्भिक चार शताब्दियों में विदेशी शासकों के प्रबल आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत की आन्तरिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी, इस युग का राजनीतिक वातावरण भी पूर्णतः क्षुब्ध था जिसके

फलस्वरूप काव्योत्थान इस युग में नहीं हुआ। वस्तुतः साहित्य-सृजन के लिए जिस शान्त वातावरण की आवश्यकता हुआ करती है उसकी परछाई तक भी इस युग में दृष्टिगत नहीं होती। फलतः इस युग को संस्कृत काव्य की घोर निशा का काल माना जाता है और इस निद्रा का भंग तथा कल्पना के मंगल-मय प्रभात का उदय माना जाता है गुप्त साम्राज्य के उदय को। गुप्त साम्राज्य ललित-कलाओं की दृष्टि से भारतीय इतिहास का सर्वाधिक सम्पन्न काल है और इसी कारण से मैक्समूलर ने इस युग को संस्कृत काव्य के पुनर्जागरण का युग मानकर विक्रम की आदिम शताब्दियों को कविता के अभाव का युग माना है। मैक्समूलर के इस मत की पुष्टि मैक्डोनल आदि अन्य विद्वानों ने भी की है। मैक्डोनल तो अपनी पुस्तक संस्कृत साहित्य का इतिहास (History of Sanskrit Literature) नामक पुस्तक में लिखते हैं—"**भारतीय श्रेण्य काव्य-साहित्य का आरम्भ ७वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध से प्रारम्भ होता है।**"

किन्तु मैक्समूलर के उपर्युक्त पुनर्जागरण के सिद्धान्त का खण्डन डा० ब्यूलर और फ्लीट आदि के अनुसन्धानों ने किया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि शक आदि विदेशी जातियाँ भारत में आईं और वे भारतीय हो गईं। उन्होंने भारतीय शिक्षा, कला, स्थापत्य और मूर्तिकला आदि को प्रश्रय दिया। ऋषभदत्त, कनिष्क और रुद्रदामन आदि संस्कृत के आश्रयदाता हुए हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विदेशी आक्रमणकारियों ने देश के एक भाग पर ही अधिकार कर रखा था। वे देश के अन्य भागों में संस्कृत के प्रचार और प्रसार को नहीं रोक सकते थे। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ५४४ ई० में यशोवर्मन् विष्णुः वर्धन ने विदेशियों को पद-च्युत किया था न कि विक्रमादित्य ने। विदेशियों को भारत से बाहर निकालने का कार्य गुप्त राजाओं ने ४०० ई० से पूर्व ही आरम्भ कर दिया था।

डा० ब्यूलर के मतानुसार तो इस युग में कमनीय स्तुति-काव्यों का प्रणयन भी होता था और वस्तुतः यह तथ्य सत्य भी है क्योंकि इस युग के

अनेक ऐसे प्रशस्ति-काव्य उपलब्ध हैं जिनमें दानी राजाओं की यशोगाथा अंकित की गई है। वास्तव में यह युग गद्य-पद्य तथा उभयविध रचनाओं के प्रणयन का युग था। इसी समय के प्रसिद्ध शक क्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार शिलालेख (समय १५० ई०) में उस शैली के दर्शन होते हैं जो रोचक तथा भाव-प्रवण होने के कारण गद्य-काव्य के नाम से अभिहित करने के लिए बाध्य करता है। इतना ही नहीं आलोचना विषयक ग्रन्थों की रचना तथा इस शास्त्र के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी हमें इस युग में देखने को मिलता है। यहाँ रुद्रदामन स्फुट, लघु, मधुर, शब्द-समय-सम्पन्न, उदार तथा अलंकृत गद्य-पद्य की रचना में प्रवीण बतलाया गया है। गद्य-पद्य के गुण-बोधक ये शब्द नितान्त पारिभाषिक हैं और किसी मान्य आलोचना-सिद्धान्त की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं।

नासिक का शिलालेख १४६ ई० के लगभग लिखा गया है। यह शिलालेख संस्कृत का प्राकृत में अनुवाद प्रतीत होता है। इसमें लम्बे-लम्बे समास हैं। श्रेण्य संस्कृत साहित्य में प्राप्त होने वाले अनुप्रास और उपमाओं की भीड़ इसमें प्राप्त होती है।

गुप्त काल के दो प्रमुख शिलालेख हैं। प्रथम शिलालेख समुद्रगुप्त की प्रशंसा में उसके आश्रित कवि हरिषेण ने लिखा है। यह इलाहाबाद के अशोक स्तम्भ पर लिखा हुआ है। यह ३४५ ई० का लिखा हुआ है। इसके आरम्भ में आठ श्लोक हैं। उसके बाद लम्बा गद्य भाग है और अन्त में एक श्लोक श्लेष और रूपक अलंकारों से युक्त फड़कती हुई भाषा में है, उदाहरणतः एक चित्र देखिए—"कीर्तिमितस्त्रिदशपति भवन गमना वाप्तललित सुख विचरण **माचक्षण इव भुवो बाहुरय मुच्छ्रि स्तम्भः।**" यहाँ पर कवि को समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति से मण्डित यह स्तम्भ भूमि का बाहु प्रतीत होता है जो देवताओं से राजा की विमल कीर्ति के भ्रमण की सुन्दर कहानी कहने के लिए ऊपर उठा हुआ है। दूसरे का लेखक चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री वीरसेन है। यह चन्द्रगुप्त की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें चन्द्रगुप्त और वीरसेन दोनों ही विद्वान बताए गए हैं।

इसके अतिरिक्त इस काल में बहुत से शिलालेख लिखे गए हैं। इनमें से कुछ प्राकृत में हैं और शेष संस्कृत में हैं। इनसे सिद्ध होता है कि इस काल में साहित्यिक रचनाओं का प्रणयन बन्द नहीं हुआ था। इनसे यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृत का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलन था। परवर्ती संस्कृत साहित्य में जो शब्दालंकार और अर्थालंकार प्राप्त होते हैं वे इन शिलालेखों में प्रचुर मात्रा में हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस काल में साहित्यिक रचनाओं का प्रणयन हो रहा था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि उस समय सुयोग्य कवि हुए होंगे किन्तु उनकी रचनाएँ नष्ट हो गई हैं। यह भी सम्भव है कि इस समय बार-बार राजनीतिक आक्रमण के कारण कवियों के आश्रयदाता राजाओं के लिए यह सम्भव नहीं रहा होगा कि वे कवियों को आश्रय दें। राजाओं के संरक्षण के अभाव में योग्य कवि उत्तम ग्रन्थों की रचना नहीं कर सके होंगे। जब तक भारत का नवीन राजनीतिक इतिहास नहीं लिखा जाता तब तक इस समय की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

वात्स्यायन विरचित कामसूत्र भी इसी समय की रचना है। यह ग्रन्थ शिष्ट जन-समुदाय का चित्रण करता है। इसमें निर्देश दिए गए हैं कि मनुष्य को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार समय-यापन करना चाहिए और किस प्रकार अच्छे व्यक्तियों की संगति प्राप्त करनी चाहिए। मनुष्य को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए किन साधनों को अपनाना चाहिए, इन बातों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। परवर्ती लेखकों पर स्थायी प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में ऐसी घटनाएँ और वर्णन दिए हैं जिनसे काम-सूत्र में लिखे हुए वर्णनों के साथ समता प्राप्त हो। वस्तुतः ऐसे वर्णनों की प्रसंगानुसार आवश्यकता नहीं थी। काम-सूत्र में सातवाहन या आन्ध्रभृत्य वंश के एक राजा का उल्लेख आया है। यह राजा अवश्य ही ई० सन् के प्रारम्भ में रहा होगा। आन्ध्र वंश का राज्य २१८ ई० के लगभग समाप्त हुआ है। वात्स्यायन का समय इसी काल के

लगभग निर्धारित किया जा सकता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह साहित्यिक काल वस्तुतः अन्धकारमय नहीं रहा है।

बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी इसी युग में धर्म-प्रचार की बुद्धि से संस्कृत में दो महाकाव्यों का प्रणयन किया। लोगों के हृदय को कोमल काव्य-कला के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति आवर्जित तथा आसक्त बनाने की अश्वघोषीय घोषणा क्या इस बात की समर्थ सूचिका नहीं है कि काव्य की लोकप्रियता प्रचार तथा प्रसार उनसे प्राचीन काल से ही होता आया था ? उन्होंने नवीन धारा की सृष्टि न कर केवल प्राचीन धारा की परम्परा से लाभ उठाने का ही प्रयास किया है। ऐसी स्थिति में नवीन ग्रन्थों के अन्वेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम की आरम्भिक शताब्दियाँ संस्कृत काव्य-प्रणयन की ष्टि से कम आदरणीय नहीं हैं।

प्रश्न ३८—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—

(क) संस्कृत साहित्य में जैन कवियों का योगदान।

(ख) संस्कृत साहित्य में स्त्रियों का योगदान।

(क) संस्कृत साहित्य में जैन कवियों का योगदान—संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में जैन पण्डितों द्वारा प्रणीत रचनाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान हैं। इन जैन कवियों ने अपने तीर्थङ्करों का चरित्र साहित्यिक तथा अलंकृत शैली में लिखकर संस्कृत भाषा तथा साहित्य के पूर्ण मर्मज्ञ होने का प्रमाण दिया है। लेकिन इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि जैन साहित्य-मनीषियों द्वारा प्रणीत रचनाओं की मूल प्रवृत्ति शुद्ध धर्म का उपदेश देना ही हैं। शुद्ध साहित्यिक चेतना के रूप में प्रणीत की गई रचनाओं की संख्या तो केवल एकाध ही है और वह भी अपवाद-स्वरूप हो। कहने का अभिप्राय यह हैं कि जैन विद्वानों में जितना मोह अपने धर्म-प्रसार के लिए था उतना साहित्यिक रचनाओं के प्रणयन की ओर नहीं।

संस्कृत भाषा के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करने वाले जैन कवियों की संख्या बहुत लम्बी-चौड़ी है किन्तु विस्तार-भय के कारण हम केवल प्रमुख-प्रमुख कवियों का वर्णन ही आगामी पक्तियों में करेंगे। अस्तु !

धनेश्वर सूरि—इनका रचनाकाल ६१० ई० है और इन्होंने शत्रुंजय नामक महाकाव्य की रचना की है। १४ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में राजाओं के सम्बन्ध में प्रसिद्ध दन्तकथाओं का काव्यात्मक वर्णन है।

वाग्भट्ट—इनका रचना-काल ११४० ई० है और इन्होंने नेमिनिर्वाण काव्य नामक महाकाव्य का प्रणयन किया है। १५ सर्गों में आबद्ध इस महाकाव्य में जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन है। काव्यत्व की दृष्टि से यह काव्य प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत है'।

अभयदेव—इनका रचनाकाल ११२१ ई० है। इन्होंने जयन्त-विजय नामक महाकाव्य का आलेखन किया है। इस में १६ सर्ग हैं और मगध देश के नरेश जयन्त की विजय का आख्यान लगभग दो सहस्र श्लोकों में वर्णित है।

अमरचन्द्र सूरि—इनका रचनाकाल १२४३-६० ई० माना जाता है। ये जिनदत्त सूरि के शिष्य थे तथा अणहिल पट्टन के राजा वीसलदेव की सभा को सुशोभित करते थे। ये बाल-भारत नामक महाकाव्य के प्रणेता माने जाते हैं। ४४ सर्गों में आबद्ध इसी महाकाव्य में महाभारत की कथा अति संक्षिप्त रूप में कही गई है। श्लोकों की संख्या ६६५० है। सम्पूर्ण काव्यों में सुबोध भाषा तथा वैदर्भी रीति का प्रयोग किया गया है।

वीरनन्दी—इनका रचनाकाल १३०० ई० है। ये चन्द्रप्रभ चरित नामक महाकाव्य के लेखक रूप में प्रसिद्ध हैं। इस महाकाव्य की कथावस्तु का आधार सप्तम जैन तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का जीवनचरित् है जो अठारह सर्गों में पूर्ण हुआ है। इस ग्रंथ में सर्वत्र सरस भाषा का ही प्रयोग किया गया है।

देवप्रभ सूरि—इनका रचनाकाल १२५० ई० है। इन्होंने पाण्डव-चरित् नामक काव्य का प्रणयन किया है। कथावस्तु की दृष्टि से यह ग्रन्थ महाभारत पर आधृत है। सम्पूर्ण काव्य की सर्ग-संख्या अठारह है और सभी के सभी सर्ग अनुष्टुप् छन्द में लिखे गए हैं। यह काव्य अत्यन्त सरल होते हुए भी रोचक बन पड़ा है।

वस्तुपाल—इनका रचनाकाल १३वीं शताब्दी है। ये गुजरात नरेश वीरधवल (१२२९-३९ ई०) के यहाँ मन्त्री पद को सुशोभित करते थे, बहुत दयालु थे और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इसीलिए इन्हें 'लघुभोजराज' के नाम से भी सुशोभित किया जाता था। इतना ही नहीं इनके आश्रय में रहने वाले सोमेश्वर, हरिहर, अरिसिंह आदि कवियों ने तो इनके उपकारों का वर्णन अपनी कविता में भी किया है।

वस्तुपाल एक दयालु व्यक्ति होने के साथ ही साथ सहृदय काव्य प्रणेता भी थे। इन्होंने 'नरनारायणानन्द' नामक महाकाव्य भी लिखा है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं जिनमें कृष्ण और अर्जुन की मैत्री, गिरनार पर्वत पर उनकी क्रीड़ा तथा सुभद्रा-हरण का बड़ा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

बालचन्द्र सूरि—इनका रचनाकाल भी १३वीं शताब्दी है। ये 'वसंतविलास' नामक महाकाव्य के रचयिता कहे जाते हैं। इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय वस्तुपाल का जीवन-चरित् है जो उनके पुत्र जैसिंह के मनोविनोद के हेतु लिखा गया था। प्रबन्ध-चिंतामणि के अनुसार यह महाकाव्य वस्तुपाल को काव्य-कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर लगा था और इसीलिए उन्होंने इसके प्रणेता को आचार्य-पद के अभिषेक के हेतु एक सहस्त्र स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान की थीं।

देवविमलगणि—इनका रचनाकाल १७वीं शताब्दी है। ये हरि-सौभाग्य नामक महाकाव्य के प्रणेता कहे जाते हैं। इस ग्रंथ में हरिविजय सूरि के चरित्र का विस्तृत रूप में आलेखन हुआ है। केवल धार्मिक ही नहीं अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस महाकाव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। सूरि जी ने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया था जिसका पालन कर उसने धार्मिक पर्वों पर हिंसा का निषेध कर दिया था। इस प्रकार से यह काव्य-ग्रन्थ ऐतिहासिक अनुशीलन में रुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिए बड़े काम का है और अकबरकालीन इतिहास को जानने के लिए तो दीपक-तुल्य ही ठहरता है।

हरिचंद्र—संस्कृत साहित्य के जैन महाकवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान हरिचन्द्र को प्राप्त है। ये धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्य के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध

हैं। इनके इस महाकाव्य को जैन साहित्य में वही आदर और स्थान प्राप्त है जो ब्राह्मण कवियों में माघ-काव्य तथा नैषध-काव्य को। इनका रचनाकाल निश्चित नहीं है और इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं किंतु यह प्रायः मान्य है कि ये कायस्थ जाति के थे और नोमक वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्या देवी था।

२१ सर्गों में निबद्ध धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्य में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ जी का चरित् वर्णित है। इस ग्रन्थ की भाषा बड़ी सुन्दर और शैली अलंकृत है। कवि ने वैदर्भी रीति के माध्यम से रचना पूर्ण की है। इस ग्रन्थ में शब्द-सौष्ठव, नवीन अर्थ और कल्पना के अति सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं।

संस्कृत साहित्य में स्त्रियों का योगदान—संस्कृत साहित्य की सृष्टि में अनेक महिला कवयित्रियों ने भी अत्यधिक योगदान किया है। इनमें विज्जका, सुभद्रा, फल्गुहस्तिनी, मोरिका, विकटनितंबा, शीला भट्टारिका, रामभद्राम्बा, गंगादेवी आदि प्रसिद्ध हैं और आगामी पंक्तियों में हम इन सभी का परिचय प्रस्तुत करेंगे। अस्तु !

विज्जका—संस्कृत साहित्य की सर्वप्रसिद्ध कवयित्रियों की गणना करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम विज्जका की ओर आकृष्ट होता है। इसका कारण यह है कि मम्मटाचार्य के 'शब्द-व्यापार-विचार' और 'काव्यप्रकाश', धनंजय के 'दशरूपकावलोक', मुकुल भट्ट के 'अभिधावृत्तिमातृका' आदि ग्रन्थों में इनके पद्य उद्धृत किए गए हैं। लेकिन इतना होने पर भी यह ज्ञात नहीं है कि इनका रचना-काल क्या है ? इतना ही नहीं विद्वानों में तो इस बात में भी पर्याप्त मतभेद है कि कार्णाटी विजया और विज्जका एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न-भिन्न। किन्तु यदि इस विवादग्रस्त विषय को छोड़ कर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से ही विचार किया जाए तो भी विज्जका का काव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण ज्ञात होता है। क्या भाव-पक्ष और क्या कला-पक्ष दोनों ही दृष्टियों से उसका काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उदाहरणस्वरूप निम्न पद देखिए

जिसमें विरहिणी की मर्मभरी बातों का अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में चित्रण किया गया है—

गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः ।
तथा चैवोत्प्रेक्ष्य प्रियसखि गतान्ताश्च दिवसान
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ।।

सुभद्रा—राजशेखर विरचित निम्न पद से—

पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया ।
कवीनां च वचो वृत्ति चातुयण सुभद्रया ।।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुभद्रा नाम्नी कोई कवयित्री काव्य-कला में अति दक्ष थी । लेकिन इतना होने पर भी इन्हें किसी विशेप प्रसिद्धि की प्राप्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि इनके किसी काव्य-ग्रन्थ का पता आज नहीं चलता । वल्लभदेव की सुभाषितावली में इनका केवल एक पद्य उद्धृत किया गया है।

फल्गुहस्तिनी—इनके द्वारा प्रणीत काव्य-ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण ही इनका नाम भी विशेप प्रसिद्ध नहीं है। सुभाषितावली में इनके दो पद्य उद्धृत किए गए हैं। इनमें से प्रथम भर्तृहरि के नीतिशतक और द्वितीय शारंगधर पद्धति में भी प्राप्त होते हैं ।

सोरिका—इनके भी केवल चार पद्यों का ही पता लग सका है। ये चार पद्य सुभाषितावली और शारंगधर पद्धति नामक पुस्तकों में सम्मिलित हैं ।

इन्दुलेखा—संस्कृत साहित्य की अन्य कवयित्रियों के समान इनका साहित्य भी अन्धकार के गर्त्त में छिपा पड़ा है। इतना ही नहीं इनके जन्म-काल एवं जन्म-स्थान का अवबोध भी अभी तक नहीं हो सका है। केवल वल्लभदेव की सुभाषितावली में ही इनका एक पद्य प्राप्त होता है ।

मारुला—यद्यपि इनके नाम से भी केवल एक ही पद्य की प्राप्ति होती है किन्तु धनदेव के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इनकी गणना प्रवीण कवियों में की जाती थी ।

विकटनितंबा—इनका जन्म काश्मीर में हुआ था, इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका है लेकिन राजशेखर ने अपनी पुस्तक सूक्ति-मुक्तावली में इनकी प्रशंसा इस प्रकार की है—

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रंजिताः ।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्य मधुर वचः ॥

शीला भट्टारिका—शारंगधर पद्धति में धनदेव नामक किसी प्राचीन कवि द्वारा लिखित एक परिचयात्मक पद्य के द्वारा ज्ञात होता है कि ये काश्मीर की रहने वाली थीं। इनकी रचना में मधुरता, शब्दों में सौष्ठव तथा अर्थों में मनमोहकता दीख पड़ती है। शार्दूलविक्रीड़ित छंद का इन्होंने बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप एक पद्य देखिए—

दूति ! त्वं तरुणी युवा सचपलः श्यामास्तपोभिदर्शः
सन्देशः सरहस्य एष विपने संकेतकाऽऽवासकः ।
भूयो भूय इमे वसन्त मरुतश्वेतो नयन्त्यन्यथा
गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवताः ॥

रामभद्राम्बा—इनके जीवन के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात है कि ये तंजोर की रहने वाली थीं। इन्होंने 'रघुनाथाभ्युदय' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया है जिसमें तंजोर नरेश रघुनाथनायक के महत्व तथा गौरव का वर्णन है।

रानी तिरुमलाम्बा—इनका नाम राजा अच्युतराय की विदुषी रानी तथा 'वरदाम्बिका-परिणय-चंपू' की प्रणेता के रूप में प्रख्यात है। इनका रचना-काल १५२९ ई० के लगभग माना जाता है। इनकी रचना के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यह बहुत पढ़ी-लिखी तथा अनेक कलाओं में पारंगत थीं और संस्कृत भाषा पर इनका विलक्षण अधिकार था। यद्यपि इन्होंने दीर्घ समासों और जटिल वाक्यों का प्रयोग किया है किन्तु फिर भी काव्य में कहीं भी अरोचकता नहीं आने पाई है।

गंगादेवी—यह 'मधुराविजय' या 'वीरकम्पराय चरित्र' नामक ऐतिहासिक महाकव्य की प्रणेता हैं। इस महाकव्य में निरूपित घटनाओं का सम्बन्ध विजयनगर साम्राज्य के उस आदिकाल से है जब महाराज बुम्क ने दक्षिणी भारत में फैलने वाले दुर्दात यवनों के उत्पीड़न तथा आक्रमण से भारतीय धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिए एक प्रभावशाली राज्य की स्थापना अपने पराक्रमी भ्राताओं तथा गुरु क्रियाशक्ति और माधवाचार्य की मंत्रणा से की। गंगादेवी उन्हीं के सुपुत्र कम्पण की अर्धांगिनी थीं और उन्होंने अपने वीर पतिदेव की विजय-यात्राओं का बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक संभव उपाय के द्वारा काव्य को ऐतिहासिक बनाने का सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया गया है। लेकिन बड़े क्षोभ की बात है कि यह कृति पूरी प्राप्त नहीं होती।

गंगादेवी के काव्य के आद्योपांत अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वह काव्य-कला के क्षेत्र में अत्यन्त दक्ष थीं। भावों में नवीनता, कोमल-हृदयता, प्रकृति के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य, शब्दों में चमत्कार और अलंकारों की कोमल सजावट सभी कुछ इनके काव्य में देखने को मिल जाता है। उदाहरणस्वरूप एक दो चित्र देखिए, कितने सुन्दर बन पड़े हैं अपने आप में—

घटमानदलाखीपुटं नलिनं मन्दिर मिन्दिरास्पदम्।
परिपालगतिस्म निक्वणन परितो यामिकवन्मधुव्रत्॥

प्रश्न ३९—संस्कृत साहित्य में 'जन-जीवन' नामक विषय पर समीक्षात्मक निबंध प्रस्तुत कीजिए।

संस्कृत साहित्य के अनेक आलोचकों का विचार है कि संस्कृत साहित्य के प्रणेताओं ने लक्ष्मी के वरद पुत्रों की गुण-गरिमा का गान करने में ही अपनी शक्ति का अपव्यय किया है, जन-जीवन की कोई झाँकी उनके काव्य में देखने को नहीं मिलती। किंतु संस्कृत साहित्यानुशीलन के उपरांत यह तथ्य अत्यन्त उपहासास्पद-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में जहाँ एक ओर तत्कालीन राजसी वातावरण तथा सभ्य नागरिक जीवन के दृश्य देखने को

मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर सामान्य जन-जीवन की झाँकी भी देखने को मिलती है और आगामी पंक्तियों में हम इसी तथ्य की विवेचना करेंगे।

संस्कृत साहित्य का उद्भव अवश्य ही सात्विक भावना से अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में हुआ है किन्तु उसकी समृद्धि राजाओं के दरबार में ही हुई है। संस्कृत के सभी मान्य कवियों का संबंध तत्कालीन नरेशों के साथ सम्बद्ध रहा है। इतना ही नहीं संस्कृत साहित्य के श्रोता भी नितान्त सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण, कला-प्रवीण, सहृदय नागरिक-जन रहे हैं; कोई सामान्य, कलाहीन, अरसिक व्यक्ति नहीं। फलतः संस्कृत साहित्य में ऐसे नागरिक जीवन का चित्रण स्वयमेव ही हो गया है। लेकिन इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि संस्कृत कवियों ने जीवन के उच्च स्तर से संबद्ध कविता के प्रणयन में ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है।

सम्राट् विक्रमादित्य के आश्रय में जीवन व्यतीत करने वाले प्रसिद्ध महाकवि कालिदास जहाँ विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा तथा उर्वशी के अलौकिक प्रेम का अंकन करने में अपनी लेखनी को नियोजित करते हैं वहाँ दूसरी ओर मेघदूत में अलकापुरी के कुबेर द्वारा शापित एक सामान्य यक्ष की विरह-वेदना का वर्णन करने में भी विमुख नहीं होते। इसी प्रकार से रघुवंश में वे उन ग्वालाओं को भी नहीं भूलते जो महाराज दिलीप का सत्कार करने के लिए मक्खन ले कर उपस्थित हुए हैं। इतना ही नहीं जिस मनोयोग से उन्होंने अतुल वैभव-मण्डित प्रासादों का चित्रण किया है उससे भी अधिक वे अग्नि-होमधूमिल मृगशावकसम्पन्न आश्रमों के स्निग्ध वर्णन में रमे हैं। वस्तुतः कालिदास की दृष्टि में जगमगाते हुए राज-प्रासादों का उतना मूल्य नहीं है जितना कौपीनधारी तपस्वियों के सुन्दर आश्रमों का है। फलतः उन्होंने आश्रमों के संध्याकालीन दृश्य, मुनि-आश्रम में होने वाले विविध क्रिया-कलापों और वहाँ के शांत-वातावरण के बहुत स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किये हैं। और इतना सब कुछ होने पर भी यदि कवि को 'जन-जीवन से विमुख' की उपाधि से विभूषित किया जाए तो यह कवि के साथ अन्याय करना होगा।

केवल कालिदास ही नहीं अपितु भारवि, माघ आदि अन्य कवियों ने भी तत्कालीन जन-जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। भारवि जो पल्लव-वंशीय राजा के आश्रय में रहा करते थे, राजनीति के उद्भट विद्वान थे। शरद्वर्णन प्रसंग में वे उन दीन-हीन गोपों को नहीं भूलते जो गायों की नित-प्रति सेवा करते रहने के परिणामस्वरूप ऋजुता में उनके प्रवीण प्रतीक बने हुए हैं। इतना ही नहीं वे तो इन गोप-गोपियों के सुख-दुःख तक से परिचित हैं। फलतः जहाँ एक ओर वे गायों के पीछे चलने वाले गोपों के सरल हृदय को देखते हैं वहाँ दूसरी ओर प्रातःकाल अपने गोठ के आँगन में मथानी से दही मथने वाली ग्वालिनों को देखना भी नहीं भूलते। कवि को केवल ऐसे दृश्यों के आकलन से ही संतुष्टि प्राप्त नहीं होती है अपितु वह सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर चित्र भी प्रस्तुत करता है; उदाहरणतः निम्नलिखित पद देखिए—

मृणालिनीनामनुरजितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखा पिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः॥

(अर्थात् धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली हैं। कमल-लता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेतों में धानों की पकी-पकी पीली शिखा सिरे पर हिल रही है जिससे जल भी पीला हो गया है। खेत का यह रंजित जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंगबिरंगा धनुष गल कर पानी के रूप में बह रहा है।) वस्तुतः कितना सुन्दर चित्र बन पड़ा है! इसी प्रकार का एक और सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र देखिए—

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कमलस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्त शिरीष कोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥

अर्थात् शरद का सुहावना समय है। सुग्गों की पाँत की पाँत उड़ रही है। शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे सुग्गों की पाँत मूँगे के टुकड़े के समान

लाल-लाल चोंचों में धान की पीली बालियों को लिए हुए आकाश में उड़ा जा रही है। मालूम पड़ता है कि इन्द्रधनुष आकाश में उगा हो।

भारवि के समान ही माघ भी जन-जीवन से अछूते नहीं हैं। वे भी जहाँ एक ओर दुरूह राजनीतिक गुत्थियों के सुलझाने में व्यग्र राजाओं का साक्षात चित्र प्रस्तुत करते हैं वहाँ दूसरी ओर सबेरे ही सवेरे विशाल वर्तन में बड़ी मथानियों से दूध मथ कर मक्खन निकालने वाले ग्वालों तथा रात्रि में पहरा देने वाले चौकीदार के रूप-अंकन में भी अति सजग दीख पड़ते हैं। इतना ही नहीं वे तो पशु-पक्षियों के आचरण तथा व्यवहार के निरीक्षण में भी पटु तथा समर्थ हैं। इन्हीं पशु-पक्षियों के आचरण के कारण बेहद तंग होने वाली धान की रखवालिनों की व्याकुलता का वे बड़ा स्वाभाविक चित्र खींचते हैं; यथा—

स व्रीहिणां यावदपासितुं गता शुकात्मृगैस्तावदुपदतिश्रियान्।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः सहासमालोकयति स्म गोपिकाः॥

इस चित्र में कवि का प्रतिपाद्य यह है कि गोपिकाएँ धान के खेत की रक्षा करने में लगी हैं। खेतों के ऊपर दोहरा आक्रमण होता है—एक ओर से सुग्गों का और दूसरी ओर से मृगों का। सुग्गों को हाँकने के लिए ज्योंही वे दौड़कर एक ओर जाती हैं कि दूसरी ओर से मृग खेत को रोंदने लगते हैं और धान को खाने लगते हैं। ऐसी विचित्र स्थिति में इन धान रखवालिनों की यह दौड़धूप कवि के हृदय में हँसी की गुदगुदी पैदा कर देती है। इसी प्रकार का एक चित्र कवि ने गायों के दूध दुहने के अवसर पर प्रस्तुत किया है, यथा—

प्रीत्या नियुक्तान् लिहतीः स्तन्धयान् निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः।
वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पयश्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः॥

यहाँ पर कवि का कथन है कि ग्वालों ने गायों के बछड़ों को उनके बाएं पैर में बांध रखा है। उन्हें वे प्रेमपूर्वक चाट रही हैं। इधर वे लोग अपने घुटनों के ऊपर दोहनी रख कर दूध दुह रहे हैं और इस अवसर पर "घर्घों-घरघों" की आवाज बढ़ती जाती है।

केवल कालिदास, भारवि और माघ आदि ने ही अपने काव्य में जन-जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत नहीं किए हैं अपितु अन्य कवियों, नाटककारों और

गद्य-लेखकों की रचनाओं में भी यह तत्व पूर्णरूपेण देखने को मिलता है। दण्डी के दशकुमारचरित् को पढ़ने पर तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हम उस युग के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक वातावरण का ऐतिहासिक अनुशीलन कर रहे हैं। अंतर लगता है तो केवल इतना कि इतिहास ग्रथों में यह सभी तथ्य नीरस से लगा करते हैं किंतु साहित्य में उन्हें अनेक आख्यानों और संभावित कल्पनाओं के द्वारा सहजगम्य बना दिया जाता है। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी इस तथ्य का विरोध नहीं किया जा सकता कि संस्कृत साहित्य मूलतः सभ्य नागरिक जनों का साहित्य है। उसके काव्यों और नाटकों में उसी जीवन का प्रदर्शन मिलता है। संस्कृत साहित्य का नागरिक एक छोटे से सरोवर और निष्कुट से सुशोभित विशाल घर में निवास करता है। इसमें से एक अन्तर्भाग कहलाता है जो स्त्रियों के लिए है। यह अन्तर्भाग कपोत-पालिका वितर्दिका, हर्म्यपृष्ठ आदि से सम्पन्न है। उसका शयनकक्ष दुग्धफेन धवल शय्या से सुसज्जित है; वह पुष्पमाला, सुगंधद्रव्य, चंदन, कर्पूर आदि की सुरभि में आप्लावित है, वहीं एक ओर वीणा टँगी है। वितर्दिका पर कई पिंजड़ों में शुक, सारिका, कपोत, चकोर आदि पक्षी चहचहाते रहतेहैं और कभी-कभी नगरकामनियों के 'मणित' में 'अन्तेवासित्व' प्राप्त किया करते हैं। नागरिक-जीवन के ऐसे दृश्य मेघदूत के यक्ष के निवास-स्थान में, माघ के द्वारिका-वर्णन में तथा मृच्छकटिक के चारुदत्त और वसंतसेना के निवास-स्थलों के चित्रण में देखे जा सकते हैं।

संस्कृत साहित्य का नागरिक सङ्गीत, साहित्य, चित्रकला, नृत्यकला और प्रकृति निरीक्षण में भी कुशल है। मृच्छकटिक का निर्धन चारुदत्त आज के उच्च मध्यवर्गीय नागरिक से कहीं अधिक रसिक व विलासी है। वह वीणावादन में कुशल है तथा रेभिल के घर पर संगीत-गोष्ठियों में सम्मिलित होता है। इसी प्रकार से उस युग की स्त्रियाँ भी संगीत, काव्य, नृत्य तथा चित्रकला में प्रवीण हो सीखती हैं।

संस्कृत साहित्य का उपर्युक्त समाज वात्स्यायन के कामसूत्र से पूर्णतः प्रभावित है, क्योंकि नागरिक के निवास-स्थल की उपर्युक्त विशेषताएँ

'नागरिकवृत्त प्रकरण' में स्पष्ट रूपेण वर्णित हैं—

"तत्र भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिवावद्विभक्तकर्मकक्षं द्विवासागृहं कारयेत् ।।"

"वासे च वासगृहे सुश्लक्ष्णमुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात् प्रतिशय्यिका च ।।"

' नागदन्तावसक्ता वीणा, चित्रफलकं वर्तिकासमुद्रको, यः कश्चित्पुस्तकः कुरकण्टकमाला च ।।''

"तत्र वहिः क्रीड़ाशकुनिपञ्जराणि ।"

इसी प्रकरण में वात्स्यायन ने नागरिक की दैनंदिनचर्या का संकेत भी किया है। प्रातःकाल उठ कर वह नित्य-कर्म से निवृत्त हो दतौन-स्नान आदि करे, तब धूप, माला आदि से सुसज्जित होकर, दर्पण में मुख देखकर, ताम्बूल का बीड़ा लेकर, अन्य कार्य करे। उसे प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, हर दूसरे दिन मालिश करनी चाहिए, हर तीसरे दिन फेन का प्रयोग करना चाहिए, हर चौथे दिन क्षौर-कर्म (Shave) करनी चाहिए तथा हर पाँचवें या दसवें दिन प्रत्यायुष्य कर्म करना चाहिए। पूर्वपराह्न तथा अपराह्न में वह भोजन करे। भोजनोपरात शुक, सारिका आदि को खिलाए, या लावक, कुक्कुट, मेष आदि की लड़ाई देखे। पीठमर्द, विदूषक आदि के साथ हँसी-मजाक करे, और दिन में कुछ विश्राम करे। अपराह्न में फिर गोष्ठी विचार करे, मित्रों के साथ क्रीड़ादि या काव्य-शास्त्र विनोद करे। रात्रि में घर को धूपादि सुगन्धित द्रव्यों से सजाकर शय्या पर अभिसारिकाओं की प्रतीक्षा करे, उनके पास दूतियों को भेजे या स्वयं जाए। उनके आगमन पर मनोहर आलाप, मण्डनादि से उन्हें संतुष्टि प्रदान करे।

अन्ततः कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में यह धारणा बना लेना कि उसमें कोमल एवं कमनीय कल्पनाओं का ही प्राचुर्य है, राजसी वातावरण की ही झलक है, लक्ष्मी के वरद पुत्रों का अंकन है किसी भी प्रकार से ठीक नहीं। वस्तुतः ऐसा करने से तो संस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ होने की संज्ञा से ही विभूषित होना पड़ेगा।

●○●

परिशिष्ट २

(भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गए प्रश्नों की सूची)

1. Prove that Sanskrit was a spoken language in Ancient India.
2. Write an essay on 'Why should we study Sanskrit ?' (I. C. S. 1936)
3. Describe briefly the spread of Sanskrit learning in countries outside India in recent times. (A. U. B. A. 1952)
4. How and with what results were Sanskrit language and literature made known to Europe ? (D. U. B. A. Hons. 1937)
5. Give an account of the contribution made by the European scholars to the study of Sanskrit Literature. (D. U. B.A. 1950)
6. Write a note on the discovery of Sanskrit in Europe in the 18th century. (D. U. B. A. 1960)
7. Describe evidence for fixing the date of the Valmiki Ramayana and discuss which portion of the work may be looked upon as authentic and why ? (A. U. M. A. 1954, 1955)
8. Write a critical note on the Ramayana of Valmiki under the following headings :—
   (a) The epic nature of the work.
   (b) Its date.
   (c) Its place in Sanskrit Literature.
   (d) Its difference from Kalidasa's Raghuvansha.
   (I. A. S. 1951)

9. What do you know about the authorship of the Ramayana ? (P. U. B. A. 1953 A)
10. Discuss the importancc of the Ramayana as the first epic of Sanskrit Literature. (P. U. B. A. 1959 S)
11. Give a literary appreciation of the Ramayana. Why is Valmiki called 'the first poet' ? (P. U. B. A. 1960 S)
12. Discuss the age of the Ramayana of Valmiki. (P. U. B. A. 1960 S)
13. What are the claims of the Ramayana of Valmiki to be considered as the Adi-Kavya in Sanskrit ? (D. U. B. A. 1958)
14. Describe the political and social condition of India as described in the Ramayana. (D. U. B. A. 1959)
15. Estimate briefly the influence of the Ramayana on the life and literature of India. (A. U. B. A. 1955)
16. Discuss the authorship of Mahabharata. (P. U. B. A. 1950 A)
17. Examine the following statement :—

   'The Mahabharata in its final shape is not an epic at all, but an encyclopaedia of moral teaching.' (D. U. B. A. 1953)
18. Write a brief essay on the Mahabharata under the following headings :—
    (a) Date showing the three stages of its development.
    (b) Nature of contents diverting from its epic Kernel into an encyclopaedia of moral teaching in its final shape.
    (c) Place in Sanskrit Literature as a poem and as a record of history. (I. A. S. 1952)
19. State in brief the contents of Mahabharata. (P. U. B. A. 1953 S)

20. What reasons are there for holding that the Mahabharata is an amplification of an older and simpler poem. (P. U. B. A. 1954 A)
21. 'The Bhagvadgita is a price-less jewel in the whole of Mahabharata.' Justify the above statement. (A. U. B. A. 1955)
22. Give a comparative estimate of the importance of the Ramayana and the Mahabharata as source books for later Sanskrit Literature. (P. U. B. A. Pt. II 1950)
23. Compare critically the character of Mahabharata with that of Ramayana. (A. U. M. A. 1953)
24. What is the traditional definition of a Purana ? Name the 18 principal ones. (U. P. C. S. 1949)
25. Discuss the traditional definition of Puranas ? (I. A. S. 1953)
26. Trace the origin of Epic Poetry. (P. U. B. A. 1952 A)
27. Describe the development of the Epic Poetry. (P. U. B. A. 1952 S)
28. Mention and briefly describe three foremost Mahakavyas. (P. U. B. A. 1952 S)
29. Trace the origin and development of Mahakavyas in Sanskrit. (D. U. B. A. 1954)
30. Write an essay on the origin and development of the Court-Epics in Sanskrit Literature. (D. U. B. A. 1956)
31. Write a note on the origin and the development of Kavya Literature. (P. U. B. A. Hons. 1948)
32. Write an essay on the growth & development of Mahakavyas. (D. U. B. A. 1939)
33. Write a note on the chief characteristics of Sanskrit Poetry. (P. U. B. A. 1944 S)

34. Write a short note on Asvaghosa.
(A. U. B. A. 1949)
35. Name the main works of Asvaghosa.
(P. U. B. A. 1948)
36. Write a note on Saundarananda. (P. U. B. A. 1947)
37. Give a literary estimate of Asvaghosa.
(P. U. B. A. 1938)
38. Give a critical appreciation of the poetry of Asvaghosa.
(I. C. S. 1934)
39. Discuss the dates of Kalidasa.
(P. U. B. A. 1945, 1951 A; U. P. C. S. 1951; A. U. B. A. 1952; B. A. Part I 1955)
40. Disccuss and critically examine the different theories regarding the date of Kalidasa. (P. U. B. A. Hons. 1952)
41. Write a short essay discussing briefly the date of the author of Meghaduta. (D. U. M. A. 1938)
42. Examine carefully the arguments advanced to maintain the view that Kalidasa flourished in the first century B. C. What, in your opinion, is the most probable date of the poet ? (I. C. S. 1941)
43. Discuss the evidence adduced by some scholars for associating Kalidasa with the great movements of the Gupta Power. (P. U. B. A. Hons. 1941)
44. Mention and briefly describe the two foremost Kavya works of Kalidasa. (P. U. B. A. 1952 A)
45. Name the main works of Kalidasa.
(P. U. B. A. 1948)
46. Discuss the chief merits of Kalidasa both from the orthodox and the modern stand—point.
(P. U. B. A. 1946)
47. What is it owing to which makes Kalidasa regarded as

the greatest poet of India ? (P. U. B. A. Hons. 1940)

48. Attempt a note in appreciation of the part of Kalidasa. (A. U. B. A. 1952)

49. Comment on the following :

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

(A. U. B. A. 1955)

50. Mention some of the choicest descriptions and give apt quotations to illustrate the poetic excellence of Kalidasa. (A. U. B. A. 1951)

51. What are the chief characteristics of the Vaidarbhi Style ? Name at least two important poets who are well-known for it. (P. U. B. A. 1948)

52. Write a note on Bharvi. (P. U. B. A.. 1947)

53. Estimate the style of Bharvi and discuss the validity of the remark भारवेरर्थगौरवम् । (A. U. B. A 1950)

54. 'Bharvi sets a bad example in his fondness for showing his skill in grammar.' (Keith), Justify or criticise this remark. (P. U. B. A. Hons. 1941)

55. Discuss the date and place of Bharvi in Sanskrit Literature. (D. U. B. A. 1959)

56. Enumerate in broad outline the influence of Bharvi on Magha, with special reference to their epics.

(P. U. B. A. 1959 A)

57. State briefly how Magha is indebted to Bharvi.

(P. U. B. A. 1949 A, 1958 S)

58. Write a brief critical note on

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

(P. U. B. A. Hons. 1952, I. A. S. 1954)